वाणी-पुस्तक-माला पुष्प १६वां ।

सती-सदाचार

प्रथम संस्करण २२००]   १९३५   [मूल्य ॥) मात्र

वाणी-पुस्तक-माला पुष्प १६वां।

श्रीजगन्मात्रे नमः।

सती-सदाचार।

प्रकाशक—
श्रीआर्य-महिला-हितकारिणीमहापरिषद्
श्रीकाशी।

प्रथम संस्करण २२००] १९३५ [मूल्य ॥) मात्र

श्रीपण्डित बलदेवदत्त ठाकर द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित

अवतरणिका ।

आर्य्यमहिलाओंके लिये सतीत्व कोई सीखनेकी वस्तु नहीं है, वरन् जन्मगत स्वभाव एवं परम्परागत 'मौरूसी' सम्पत्ति है, उनके प्रत्येक नस-नसमें सतीत्वकी भावना भरी हुई है। परन्तु वर्त्तमान समयके दूषित वातावरण, दूषित प्रवाह एवं दूषित शिक्षा-प्रणालीके कारण उनकी वह पवित्र भावना प्रसुप्त हो चली है। उसी प्रसुप्त भावनाके उद्बोधनके लिये सती-सदाचारके प्रणयनका क्षुद्र प्रयास किया गया है। यह वाणी-पुस्तक-मालाका १६वाँ पुष्प है। इसके द्वारा आर्य्यमहिलायें यदि पातिव्रत्य-योगके अलौकिक महिमाको समझकर अपने भीतर प्रसुप्त सतीत्व-भावनाको जगानेका प्रयत्न करेंगी तो लेखिका अपने परिश्रमको सार्थक और अपनेको सफल मनोरथ समझेगी। अन्तमें आदिसती श्रीजगदम्बाके राजीव चरणोंमें विनीत प्रार्थना है कि, वे आर्य्यमहिलाओंके अन्तःकरणमें अपने उस आदर्श सतीभावको पुनः उद्बोधित करें।

रामनवमी
सम्वत् १९९२

—लेखिका

प्रेम-पुष्पोपहार

जो त्याग, तपस्या एवं आत्म-संयम आदि अमूल्य गुणावलियोंसे श्रीवल्लभ-वंशकी समुज्ज्वल रत्न हैं, जिनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, असाधारण धैर्य्यगुण-शालिता एवं शील-सौजन्यमय मधुर सौम्य स्वभाव आर्य्य-महिलामात्रके लिये अनुकरणीय है, उन शान्ति, सदाचार एवं पवित्रताकी प्रत्यक्ष प्रतिमा मेरी परम प्रेम तथा आदर-भाजन श्रीमती वाणी बेटीजी महारानी बम्बईके लिये मेरे हृदयमें जो आदर और प्रेम है, उसीका निदर्शनस्वरूप यह ग्रन्थ उनके पवित्र कोमल कर-कमलोंमें 'प्रेम पुष्पोपहार' रूपसे सादर समर्पित है।

विद्यादेवी।

भूमिका ।



मनुष्यजन्मके उद्देश्यके विषयमें वेदमें लिखा है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः"

अर्थात् मनुष्यजन्मको पाकर जिसने परमात्माको जान लिया, उसीका जन्मधारण सार्थक है, नहीं तो जन्म वृथा ही गया और सब कुछ नाश हो गया यही समझना चाहिये। इस परम श्रेयः लाभके लिये उपाय क्या क्या है, इसका दिग्दर्शन श्रीभगवान्ने स्वयं ही किया है। यथा श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

निःश्रेयस लाभके लिये, परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये ज्ञानयोग, कर्मयोग और उपासनाके प्राणरूपी भक्तियोग ये तीन ही उपाय हैं। किन्तु इसमें रमणीयता और विशेषता यह है कि, पुरुषके मोक्षलाभके लिये विहित इन सब योगोंका निष्कर्ष स्त्री-जातिके परमपवित्र पातिव्रत्य योगमें दृष्टिगोचर होता है, जिसके अलौकिक परिणाममें

सती महिला अनन्त सुखमय पतिलोक वासिनी तथा निःश्रे-यसकी अधिकारिणी हो जाती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने कहा है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

सती महिलाओंके लिये पृथक् रूपसे किसी प्रकारके भी यज्ञ, व्रत या उपवासादि तपोधर्मका विधान नहीं है, केवल पतिसेवा तथा पातिव्रत्य धर्मके पूर्णानुष्ठानद्वारा ही वे अत्युन्नत लोककी अधिकारिणी हो जाती हैं। 'सती—सदाचार' में सुन्दर भाषा, सुन्दर भाव, सुन्दर विचार तथा सुन्दर वर्णनशैलीके द्वारा इसी अलौकिक रहस्यको परि-स्फुट किया गया है।

महिलाजगत्‌में वेदमन्त्रोंकी द्रष्ट्री ज्ञानी ब्रह्मवादिनी विदुषी नारियोंका भी अभाव नहीं है। उपनिषद्‌में—

'येनाऽहं नामृता स्यां किन्तेनाहं कुर्याम्'

यदि धनसम्पत्तिके द्वारा मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती है, तो मुझे उसका कोई भी प्रयोजन नहीं है, विदुषी ब्रह्म-वादिनी मैत्रेयीका निजपति महर्षि याज्ञवल्क्यके प्रति ज्ञान वैराग्यपूर्ण इस प्रकार कथन भी दुर्लभ नहीं है। राजर्षि जनककी सभामें "मैं स्त्री नहीं हूं, विषयविलासी, कामान्ध

जीव ही स्त्रीपदवाच्य है” ब्रह्मवादिनी गार्गीके ज्ञानपूर्ण, असीमसाहसपूर्ण इस प्रकार उपदेश आर्यशास्त्रमें अनेकशः प्राप्त हुआ करते हैं। अपने पुत्रोंको परमात्माका पथ दिखानेके लिये—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि,
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारमायां त्यज मोहनिद्रां,
मदालसा शिक्षयतीह बालम् ॥

हे पुत्र ! तुम नित्य शुद्ध बुद्ध निरञ्जन संसारमायासे परे विराजमान् ब्रह्मरूप हो, अतः तुम्हें संसारजालमें बद्ध नहीं होना चाहिये—इस प्रकार ज्ञानमयी माता मदालसाकी सत्य-सुन्दर कथा भी पुराणोंमें देखनेमें आती है। किन्तु नारी-जातिका आदर्श गार्गी नहीं है, सीता सावित्री है, गार्गी, मैत्रेयीको हम असाधारण स्त्री कह सकते हैं, किन्तु आदर्श रमणी नहीं कह सकते। क्योंकि स्त्रियां जगज्जननी जगदम्बाकी अंशस्वरूपिणी हैं—‘स्त्रियः समस्ताः सकलाः जगत्सु’ यह सप्तशतीकी सत्यवाणी है। अतः उनमें जगन्माताके निखिल-मधुर-भावोंके विकाशद्वारा उन्हें मूर्तिमती जगज्जननी बना देना ही उनके लिये पूर्णोन्नतिसाधक उपादान है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। सती-सदाचारमें

इसी मधुर-मनोहर भावविकाशके लिये ही पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

शुष्क वैराग्य, शुष्क ज्ञान, जीवनमरुमें दग्धकङ्करवाही तप आदिके द्वारा पुरुष निराकार ब्रह्मका साक्षात्कार कर दुःखमय संसारसे निस्तार लाभ कर सकते हैं। किन्तु सतीके मधुर जीवनमें शुष्कताका न स्थान ही है और न प्रयोजन ही है। जगन्माताकी अंशरूपिणी होनेसे वे स्नेहमयी माता हैं, करुणामयी भगिनी हैं, प्रेममयी दुहिता हैं, दिव्यज्योतिर्मयी आदर्श सती हैं और सुचतुरा, कला-कौशल-विलासशालिनी गृहिणी हैं। इन्हीं भावोंकी पूर्णतासे ही उनकी पूर्णता तथा मुक्ति है। केवल पातिव्रत्यके द्वारा ही इन सब भावोंका सामञ्जस्यपूर्ण मधुर विकाश हो सकता है। इसी कारण पातिव्रत्यको सत्यदर्शी महर्षियोंने स्त्री-जातिका अनन्यधर्म कह कर इसकी अलौकिक महिमाका प्रचुर वर्णन किया है। आर्यशास्त्रमें पातिव्रत्यको कल्पतरु कहा गया है। इस कल्पतरुका सतीहृदयमें प्रच्छन्न मूल 'पतिकी कल्याण चिन्ता' है। 'वे जैसे थे ऐसे प्रसन्न तो हैं, उन्हें कोई कष्ट तो नहीं हो रहा है'—इत्यादि चिन्ताएं सती हृदयमें निरन्तर रहा करती हैं और इसी चिन्तासे ही 'पतिदेव-दर्शन-लालसारूपी' कल्पतरुका स्कन्ध प्रकट हुआ करता है। पतिदेवकी प्रसन्नताके

लिये अनुष्ठित कर्मयोग तथा सकल प्रकारकी सेवा इस कल्प-तरुकी शाखा-प्रशाखा है। इस विशाल कल्पतरुके अनेक प्रकारके पत्ते होते हैं, किन्तु सबका एक ही रङ्ग होता है। पति प्रसन्नताके लिये अनुष्ठित समस्त क्रिया कलाप—भोजन बनाना, घरको सुपरिष्कृत तथा सुसज्जित रखना, सन्तान प्रतिपालन, गृहसामग्रियोंकी सुरक्षा इत्यादि इत्यादि सभी कार्य कल्पतरुके सुन्दर नाना प्रकारके पत्ते हैं, किन्तु सभीका लक्ष्य पतिकी प्रसन्नता होनेसे सभीका एक ही रङ्ग है। सतीका शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभी कुछ पति-देवताकी पूजाके लिये नैवेद्यरूप हैं, अपने वैषयिक सुख-भोगके लिये नहीं। उनका वस्त्र धारण, अलंकार धारण, केशप्रसाधन आदि सभी कुछ पतिपूजार्थ फल-मूल-मिष्टान्न आदिके द्वारा नैवेद्य सजानारूप है। ये ही सब सतीत्व कल्प-तरुके सुन्दर मनोरम पल्लवसमूह हैं। कल्पतरुका फूल क्या है? सतीकी सन्ततियां ही फूल हैं। ये सबके सब सुशील, आदर्शचरित्र, मधुर स्वभाव, मेधावी होते हैं। मानो, सती-माताके पवित्र कोखमें रहनेके कारण सब पवित्र हो गये हैं, या पवित्र कुक्षिके सौरभसे सुगन्धित, सुवासित, सुमधुर हो गये हैं। इसी पवित्रताका इतना प्रभाव अपने परिवार, दास-दासियां, कुटुम्बजन तथा प्रतिवेशियों पर भी पड़ जाता है,

कि सती-गृह, सतीसदन, सतीपल्ली साक्षात् नन्दनकाननके अनुपम आनन्दको प्रदान करने लगती है। यही सब सतीत्वकल्पतरुके फूलोंकी महिमा है। सतीत्व कल्पतरुका फल सतीके श्वशुर कुल, पितृकुलका उद्धार, संसारमें सकल प्रकारका अभ्युदय, अनुपम सुखमय सतीलोक-प्राप्ति और अन्तमें मुक्ति है। 'सती सदाचार' में इन गम्भीर तत्त्वोंका विशद वर्णन किया गया है।

सती-सदाचारके छः अध्याय हैं यथा—प्रेम और पातिव्रत्य, तपस्या और नारीधर्म, पातिव्रत्य और योग, उपासना और नारीधर्म, पातिव्रत्य और निष्काम कर्मयोग तथा पातिव्रत्य और भक्तियोग। प्रथम अध्यायमें सती प्रेमकी अलौकिकता, उसमें कामगन्धहीन निःस्वार्थ आत्मसमर्पण भाव जिसके फलसे सती पतिभगवानमें शरीर, मन, प्राण, आत्मा सब कुछ लवलीन कर निःश्रेयस लाभ कर सकती है—इन सब गूढ़ रहस्योंका अपूर्व वर्णन है। नारीधर्म तपोमय है जिसमें शरीर, मन, इन्द्रियां सभीका बहिर्विषयोंसे प्रत्याहार कर पतिसेवामें ही निरन्तर लगा देना परम पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके फलसे सतीकी अन्तिम अभीष्टसिद्धि होती है यही द्वितीय अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है। आगेके चार अध्यायोंमें अनेक गम्भीर विचारोंके द्वारा यही प्रतिपादित

किया गया है कि, योगीकी अष्टाङ्ग योगसाधना, उपासककी विविध प्रकार उपासना, कर्मयोगीका ईश्वरार्पणमूलक निष्काम कर्मयोग और प्रेमी भक्तकी वैधी-रागात्मिका-परा-भक्ति, सभी साधनाएं एकमात्र पातिव्रत्ययोगमें ही पर्यवसानको प्राप्त होती हैं, सतीके लिये पृथक् पृथक् साधनाओंकी आवश्यकता नहीं है, वे पति भगवान्की पूजामें ही परम योगिनी हैं, उपासनाकी मधुर मूर्ति हैं, निष्कामकर्मयोगकी अलौकिक आदर्शस्वरूप हैं और शुद्ध रागप्रवाहिनीमें उन्मज्जन निमज्जन करती हुई पराभक्तिसागरमें लवलीन होनेवाली हैं। इसी लवलीनताके चरम फलमें ही पातिव्रत्यकी पराकाष्ठा है और सती-जीवनकी अन्तिम सार्थकता है। यही सतीके लिये देवदुर्लभ अनन्त आनन्दमय मोक्षपदवी है।

'सती-सदाचार' सती साहित्यजगत्में एक समुज्ज्वल रत्न है। आशा है सती-महिलाएं इस अपूर्व रत्नके द्वारा अपने सुन्दर भवनोंको और भी सुन्दरतर बनानेमें समर्थ हो सकेंगी। पुस्तककी लेखिका सद्भावमय इस उत्तम पुरुषार्थ के लिये सर्वथा धन्यवादार्ह हैं।

स्वामी दयानन्द।

सती-सदाचार ।

प्रेम और पातिव्रत्य ।

प्राणिमात्रमें, जिनमें शब्द द्वारा या क्रिया द्वारा अपने हृद्गतभावोंको प्रकट करनेकी शक्ति है, उनमें एक प्रकारके आर्द्र, मधुर रसका सञ्चार देखा जाता है, जिसे पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी अपनी चेष्टाओंसे दिखाते हैं। इसी मधुर रससे जगत् जकड़ा हुआ है। इसीने इतने दुःखपूर्ण संसार-को भी मधुसिक्त कर रखा है। कोकिलका मधुर कूजन, मयूरकी केकावाणी, घोड़ेका हिनहिनाना, गौका रंभाना आदि सब पशु-पक्षियोंके गम्भीर हृदयकी इस मधुरवृत्तिके प्रकाशक उद्गार मात्र हैं, जिनको चिन्ताशील व्यक्ति अनुभव करके आनन्द प्राप्त करते हैं। इसी वृत्तिके वशीभूत होकर चिड़ि-यायें अनेक कष्टोंसे अपना खाद्य चुगतीं और स्वयं न खाकर

अपने पत्त-विहीन बच्चेकी चोंचमें डाल देती हैं, अपने विछुड़े बछड़ेको देखते ही स्नेहसे गोमाताके थनोंमें गोरस उमड़ पड़ता है और वह उसे चाट-चाट कर नहला देती है, श्वानकी स्वामि-भक्ति जगत्-प्रसिद्ध है, अपने स्वामीसे विछुड़ा हुआ कुत्ता अपने प्रभुको आया देख पैरोंमें लिपट जाता है और पूँछ हिलाकर किसी अन्तर्निहित मधुर-रसको व्यक्त करता है। इस मधुर वृत्तिके मूलका अन्वेषण करनेपर यही सिद्ध होता है कि, सब प्राणियोंके कारणरूप परमात्मा स्वयं ही रसरूप हैं, जैसा कि, श्रुतिका कथन है—"रसो वै सः" परमात्मा रस अर्थात् मधुर आनन्दरूप हैं। भगवान् रसरूप हैं, इसी कारण वे इतने मधुर और सबके प्रियतम हैं। इसी माधुर्य्यके कारण जगत् जगदात्माकी ओर स्वभावसे ही आकृष्ट होता है। श्रीभगवान्ने भागवतमें स्वयं कहा है—"प्रीयन्ते मयि जन्तवः"। यदि वे मधुर न होकर क्रूर होते, तो भगवान्से जीव प्रेम करते डरते। परन्तु ऐसा नहीं होता। महापापीसे भी पापी जब प्रियतम भगवान्के इस रसमय मधुर रूपको जान जाता है, तो वह निःशंक और निडर होकर अपने पापोंकी पोटली, जो उसके अन्तःकरणमें बँधी रहती है, खोलकर भगवान्के सामने रख देता है और क्षमा-याचना करता है। स्वयं उसकी आत्मा उस विश्वात्माकी ओरसे

साक्षी देती है कि, "मुझे कोई डर नहीं है"। यह उस रसमय-की परम करुणामयी मधुरताका ही परिचायक है। व्रज-वालायें कहती हैं—"प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल वन्धुरात्मा" अर्थात् आप सब प्राणियोंके बन्धु, आत्मा, प्रेष्ठ अर्थात् प्रियतम हैं। उनमें रसके सब अङ्गोंकी पूर्णता हैं। इसी कारण उन्हें पुत्र, पिता, पति, सखा आदि जिस रूपमें जो चाहता है, रसिकराज भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। जब जगत्कारण परमात्मा रसरूप हैं, तो उनके अंशरूप प्राणियोंमें उस रसका होना स्वाभाविक ही है; जो कारणमें होता है, वही कार्यमें होगा, यह एक निश्चित सत्य है। उसी प्रकार जो कारणमें नहीं है, वह कार्य्यमें हो ही नहीं सकता। रसरूप श्रीभगवान्का वही रस जगत्के जीवोंमें किसी न किसी रूपसे कहीं कम कहीं अधिक व्याप्त है। जिस मनुष्यके हृदयमें इस रसका विशेष विकास होता है, उसे लोग सरस, सहृदय और रसिक कहते हैं। जहाँ इसकी कमी होती है, उस मनुष्यको नीरस, शुष्क, रुक्ष आदि कहा जाता है।

इस रसका विलास संसारमें त्रिविधरूपोंमें देखा जाता है। अपनेसे छोटोंके प्रति जो अनुराग होता है, उसको स्नेह कहते हैं। समवयस्कके साथ जो रसका संचार होता है, उसको प्रेम कहते हैं और गुरुजनोंके प्रति जो आदरमूलक

अनुराग होता है, उसको श्रद्धा कहते हैं। पिता-माताका पुत्र-कन्याके प्रति जो प्रेमका निम्नगामी स्रोत है, वह स्नेह है। मित्रका मित्रके प्रति, सखाका सखाके प्रति और पतिका स्त्रीके प्रति या स्त्रीका पतिके प्रति जो स्निग्ध मधुर भाव है, उसको प्रेम कहते हैं। वही रस पुनः ऊद्ध्र्वगामी होकर प्राणियोंके परम प्रियतम श्रीभगवान्‌के पतितपावन चरणोंकी ओर जब प्रवाहित होता है तब भक्ति कहाता है। स्वयं रसरूप भगवान् भी भक्तिके भूखे और प्रेमके अधीन हैं। उस शुद्ध प्रेमके मधुर पाशमें जगत्‌के शासक, नियन्ता, चालक भगवान् भी अनायास बाँधे जाते हैं, तो साधारण मनुष्यों या अन्य जीवोंकी बात ही क्या! स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

मैं भक्तोंका अधीन अर्थात् पराधीन हूँ। भक्तोंके निकट मेरी स्वतन्त्रता नहीं है। भक्तोंके निकट मेरा हृदय बँधा

हुआ है। साधुओंके विना मैं अपनी आत्मा और श्रीको भी नहीं चाहता। मैं साधुओंकी परम गति हूँ। जिस प्रकार सती स्त्रियाँ अपने पतिको वशमें कर लेती हैं, उसी प्रकार मुझमें चित्तको वाँधकर समदर्शी साधुगण मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।

यह मधुर रस चाहे स्नेहरूपमें हो, चाहे प्रेमरूपमें हो और चाहे श्रद्धारूपमें हो, सभी अवस्थाओंमें आत्मत्यागका वलिदान चाहता है। अपनी प्रिय सन्तानके लिये पिता-माता अपना तन, मन, धन और सर्वस्व सब समय त्यागनेको प्रस्तुत रहते हैं। वे स्वयं न खाकर, स्वयं अच्छा न पहन कर यथाशक्ति अपने वच्चोंको अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनाते और उनके पालन-पोषण, शिक्षा और रक्षाके लिये धनका मोह छोड़ देते हैं। वे अपनी सन्तानको सुखी करनेके लिये, शरीर, मन तथा बुद्धिसे उन्नत मनुष्य वनानेके लिये प्राण-पणसे चेष्टा करते हैं और उनके अशुभकी आशंका होने पर उनके लिये अपने प्रिय प्राणोंको न्योछावर करनेके लिये कटिवद्ध रहते हैं। इसी प्रकार जहाँ सच्ची मैत्री है या सच्ची श्रद्धा है, यही निराला दृश्य देखनेमें आता है। अवश्य ही ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं। गुरुगोविन्द सिंहके प्रिय शिष्योंने गुरुकी आज्ञासे प्राण देनेकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर

श्रद्धाकी पूर्णताका ही परिचय दिया था और वे प्यारे कहलाये थे। यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि, आत्मत्यागका पूर्णरूप ही प्रेम है। इसी कारण प्रेम-पथके पथिकको सर्वप्रथम स्वार्थत्याग और आत्मसंयमकी ही दीक्षा लेनी पड़ती है। उसीकी साधनामें समस्त जीवन व्यतीत होता है। सिद्धि किसी विरलेको ही मिलती है। जो जितना स्वार्थत्याग कर सकता है, वह उतना ही प्रेमपथमें आगे बढ़ता है या उतने ही अंशमें प्रेमिक बननेका दावा कर सकता है। पूरे आत्मत्यागका नाम ही सच्चा प्रेम है। अतः, जो पूर्णतया आत्म-त्याग कर आत्म-भावनाको भूल सके, वही पूर्ण और सच्चा प्रेमिक या प्रेमिका है। इस प्रसंगमें यह शंका होती है कि, प्रेमका अर्थ यदि आत्मवलि है तो यह त्याग और तपस्याके द्वारा भी साध्य है। इसका समाधान यह है कि, ऐसा हो भी सकता है, परन्तु भेद इतना ही है कि, तपस्या और त्यागकी प्रखर अग्निमें शरीर, मन और आत्माकी आहुति देनी पड़ती है, किन्तु प्रेमकी अति मधुर रस-सरितामें आत्मभावना स्वतः बह जाती है। इसकी वेदनामें भी अलौकिक माधुर्य्य और आहमें भी अनिर्वचनीय आनन्द है। प्रेमका पथ जितना मधुर, उतना ही विकट भी है। इसके पथिक भी विरले ही होते हैं। पतिव्रता सतियाँ

इसी कठिन प्रेम पथमें चलकर पति-तन्मयता प्राप्त करती हैं। इस पथमें चलती हुई वे कठिनसे कठिन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो जाती हैं और संसारको अचम्भेमें डाल देती हैं। आदर्श सतीके जीवनमें प्रेमकी पराकाष्ठा देखनेमें आती है।

प्रेम-साधनाकी तीन अवस्थाएं होती हैं। वे प्रेम-साधनाके तीन अधिकार भी कहे जा सकते हैं। इन तीनोंमें दो साधन अवस्थाएं और अन्तिम तीसरी सिद्धावस्था है। वे मेरे हैं या वह मेरी है, यह पहली अवस्थाका अनुभव है। मैं उनकी या उनका हूँ, यह दूसरी अवस्था या अधिकारका अनुभव है और वह मैं एक हूँ, यह अन्तिम तीसरी अवस्था है। इनमें प्रथम अवस्थामें वह मेरा है या मेरी है, इस अनुभवमें अपना ही प्राधान्य रहता है। इस कारण प्रेमिक या प्रेमिका अपने प्रियपात्रको सुखी करना चाहती है, स्वयं अनेक दुःख-कष्ट सहकर भी अपने प्रियजनको सुखी देखना चाहती है, परन्तु उसकी आन्तरिक इच्छा यही रहती है कि, उसका प्रियपात्र उसकी इच्छाके अनुसार चले, उसके अनुकूल आचरण करे, उसकी इच्छाओंको पूर्ण करे, वह जैसा बनाना चाहे वैसा बने, उसकी इच्छाके प्रतिकूल कुछ भी न करे, क्योंकि वह उसका या उसकी है। इस भावनामें

आत्म-भावनाकी बड़ी प्रबलता रहती है। इस कारण अपने प्रियजनकी यदि कोई चेष्टा अपने प्रतिकूल होती है, तो वह यन्त्रणा असह्य हो उठती है। उस मर्म-वेदनाकी कोई चिकित्सा नहीं है। "मैंने उसके लिये इतना किया, उसने मेरे साथ ऐसा किया" इत्यादि विरुद्ध वृत्तियाँ अन्तः-करणमें आकर प्रेमके पौधेको ही नष्ट-भ्रष्ट कर डालती हैं। इतना ही नहीं, आज संसारमें प्रेमके नाम पर जितने उत्पात और उपद्रव पढ़े-सुने जाते हैं, प्राणान्त कलह और हत्यायें होती हैं, वे सब इसी प्रथम प्रारम्भिक अवस्थाके परिणाम हैं। इनमें अपनी प्रधानता रहनेसे अपने सुख स्वार्थकी ही प्रधानता रहती है। प्रेमिक या प्रेमिका अपने प्रियपात्रके लिये तभी तक सब कुछ करनेको प्रस्तुत रहती है, जब तक उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई घटना नहीं होती। किसी प्रकारकी प्रतिकूलता होने पर मनुष्य कभी-कभी तो बहुत अधिक उन्मत्त हो उठता है, जिसका परिणाम अत्यन्त रोमांचकारी और भयावह होता है।

प्रेमकी दूसरी अवस्था इससे बहुत उन्नत है। इसमें जब प्रेमिककी यह भावना रहती है कि, मैं उनकी या उनका हूँ तो अपना अलग अस्तित्व पहलेही मिट गया; इस कारण अपनी अलग इच्छा या स्वार्थ कुछ भी नहीं

रहा। जब मैं उनकी या उनका हूँ तो, वह जिसमें प्रसन्न है, मैं उसीमें प्रसन्न हूँ। जब अपनेपनका भाव नहीं है, तो अपना कोई झगड़ा भी नहीं है। मैं उनकी या उनका हूँ इस कारण मैं उन्हींके लिये हूँ। हमारी सभी चेष्टायें उन्हीं प्रिय-इष्टको रिझानेके लिये होती हैं। जिसमें हमारी किसी क्रियासे उनको जरा भी कष्ट न हो, वह जिस प्रकार सुखी होना चाहे, मैं प्राण देकर उन्हें सुखी करूँ। इस प्रकारके प्रेमिक या प्रेमिकाको कल्पनातीत अथाह आनन्द मिलता है। सच्ची प्रेमिका सतियाँ प्रेम-समुद्रके गम्भीर नीरमें ऐसा गोता लगाती हैं कि, प्रेमके विरोधी और बाधक स्वार्थ एवं स्वाभिमानजनित काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिकी आग वहाँ पहुँचनेसे पहलेही शान्त हो जाती है। इसी कारण सतियोंके पवित्र और स्थिर पति-प्रेममें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य, ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य आदि कोई भी वृत्तियाँ बाधक नहीं हो सकतीं; क्योंकि उनकी गति बदल जाती है। अपनापन कुछ रहता ही नहीं। इस कारण अपने व्यक्तिगत दुःख-सुख और स्वार्थसे उत्पन्न इन वृत्तियोंका प्रबल उमंग सतीके अन्तःकरणको उद्वेलित नहीं कर सकता। सतीके प्रियतम इष्टदेव पतिके प्रेमी उसके प्रिय, द्वेषी उसके द्वेषभाजन और

शत्रु उसके भी शत्रु होजानेसे आदर्श प्रेमिका सतीके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ प्रेम-सरितामें बहती हुई पतिके हृदय-सागरमें ही जा मिलती हैं।

प्रेमकी तीसरी अवस्थामें प्रेमिक और प्रिय-पात्रकी तादात्म्यता हो जाती है। प्रेमिक या प्रेमिका अपने प्रिय-पात्रके ध्यान और चिन्तनमें निरन्तर निमग्न रहनेसे तद्रूप हो ।जाती है। जैसा कि कहा है, "कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते" अर्थात् तेलचट्टाकीट भ्रमरकीटके द्वारा पकड़े जाने पर डरसे उसीकी चिन्ता करता-करता भ्रमरकीट ही बन जाता है। प्रेमकी पूर्णताकी यह सर्वश्रेष्ठ अन्तिम अवस्था है। प्रथम अवस्थामें अपनापन बना रहता है, दूसरी अवस्थामें उसका अपचय होने लगता है और तीसरी अवस्थामें अपनापन एवं अपने अहंकारका बिल्कुल विलय हो जाता है। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है, यही पूर्णानन्दके उदयका स्थान है। इस अवस्थामें निरन्तर प्रियतमके चिन्तनसे आत्म-भावना विस्मृत हो जाती है। उदाहरणके लिये समझ सकते हैं कि, जब भगवान् कृष्ण अन्तर्धान हो गये थे, उस समय भगवान्के विरहमें व्याकुल व्रज-बालायें अपनेको कृष्णमय ही देखने लगी थीं। यथाः—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥

अर्थात् भगवान् कृष्णके अन्वेषणमें कातर इस प्रकारसे उन्मत्तकी तरह बोलती हुई गोपियाँ, अन्तमें तन्मय होकर भूल ही गयीं कि, वे स्त्रियाँ हैं; और अपनेको कृष्ण समझ कर उनकी समस्त लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। यही अवस्था प्रेमकी तन्मयता या तादात्म्यताकी है।

प्रेमके विषयमें जितनी अधिक गवेषणा की जाती है, जितना अधिक उसके अन्तस्तलमें प्रवेश किया जाता है, यही सिद्ध होता है कि, आदर्श सतीदेवियोंका अन्तःकरण आदर्श और अति उन्नत प्रेमका अधिष्ठान है। प्रेमकी तीन अवस्थाएँ होती हैं, यह पहले कहा गया है। प्रेमिक या प्रेमिकाकी प्रथम अवस्थामें अपनी प्रधानता रहती है, इस कारण प्रियपात्र अपने अनुकूल चले, इच्छानुकूल रहे, जो कहूँ वही करे इत्यादि-इत्यादि अपने स्वार्थकी वृत्तियोंकी बहुत प्रधानता रहती है। अतएव, पहली श्रेणीके प्रेमिक या प्रेमिका सब परस्परार्थी होते हैं। जबतक परस्परके दुःख-सुखोंका पूरा विचार रखते हैं, तबतक परस्परमें प्रेम बना रहता है। यदि एक ओरसे उसमें किसी प्रकारकी भी त्रुटि हो जाय या नहीं भी हो जाय, केवल सन्देह ही हो जाय, तो प्रेममें विषमता

उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप अन्तमें प्रेम या रागके स्थानपर द्वेष या शत्रुताका साम्राज्य भी देखा जाता है। दूसरी अवस्थामें आत्म-समर्पण होनेसे इस स्वार्थकी मात्रा बहुत कम हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमिक या प्रेमिकाका अस्तित्व केवल अपने प्रियपात्रके लिये होनेके कारण, प्रेमिक या प्रेमिका सब अपने प्रियपात्रको सुखी करनेके लिये सब दुःख सहनेको प्रस्तुत रहते हैं; उसको अपने अनुकूल चलानेकी चेष्टा नहीं करते, किन्तु वह क्या चाहता है, किसमें दुःखी और किसमें सुखी होता है, उसकी प्रसन्नता किसमें है, इस बातको वे बड़े ध्यानसे देखते और स्वयं अनेक कष्टोंकी उपेक्षा करके और प्राण देकर भी अपने प्रियपात्रको सुखी देखना चाहते हैं। यह पूर्ण परार्थीकी अवस्था है।

इस अवस्थामें, प्रेममें विषमता उत्पन्न करनेवाली यह भावना या शर्त नहीं रहती कि, मैं उसके लिये सर्वस्व त्याग करूँ, तो वह भी मेरे लिये करे ही और यदि ऐसा न हो तो प्रेमके साम्राज्यको द्वेष आक्रान्त कर ले। प्रेमपात्र उसे चाहे या न चाहे, उसके प्रेमी उसपर न्योछावर होते ही हैं। उसपर बलिदान होते ही हैं। प्रेमरसके उन्मादमें सम्पूर्ण जीवन संयम और व्रतमें व्यतीत कर देते

हैं। परन्तु प्रेमिका या प्रेमीको यदि इस बातका निश्चय हो जाता है कि, उसका प्रियपात्र भी वैसा और उतना ही प्रेम करता है तो उसके हृदयमें एक ऐसा अवर्णनीय मधुर आनन्दका अनुभव होता है, जिसकी तुलनामें समस्त संसारका साम्राज्य तुच्छ, स्वर्गका अनुपम आनन्द तुच्छ और यहाँ तक कि मनुष्यमात्रका वांछनीय, असीम आनन्दका आधार, सर्व दुःखोंका शान्तिस्थान निर्वाण भी उस आनन्दकी तुलनामें तुच्छ ही प्रतीत होता है। प्रेमिका या प्रेमी अपने सब सुखोंकी लालसा अपने प्रियपात्र पर अनायास न्योछावर कर सकते हैं; परन्तु इस मधुर आशाकी लता उनके अन्तःकरणमें लहलहाया ही करती है। इस अनिर्वचनीय आनन्दकी अन्तिम अभिलाषा उनकी हृदय गुहामें छिपी रहती है; उन्नतसे उन्नत प्रेमीके अन्तःकरणमें भी यह आशा अवश्य रहती है कि, मेरा प्रिय मुझे चाहे। प्रेममें कोई स्वार्थ न होनेपर भी यह इतना स्वार्थ अवश्य रहता है। यही प्रेमका स्वार्थ है। प्रियतम भगवान् कृष्णके प्रेममें लवलीन व्रजबालायें अपने पति-पुत्रोंका प्रेम त्याग कर, लोक-लाजकी उपेक्षा कर, जब भगवान्‌के निकट उपस्थित हुई तो भगवान्‌ने उन्हें बड़े ही नीरस निष्ठुर शब्दोंमें वापिस जानेको कहा। यथाः—

पतयो नाऽभ्यसूयेरन् पितृ-भ्रातृ-सुतादयः।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥

अर्थात् तुम्हारे इस प्रकार घर छोड़नेसे पति, पिता-भ्राता, पुत्र, देवता आदि असन्तुष्ट हो जायँगे। इसलिये तुमलोग अपने-अपने घर लौट जाओ। मेरे पास रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मुझमें चित्त लगानेसे ही शीघ्र मुझे प्राप्त करोगी! इसको सुनकर जो भगवान्‌की सच्ची प्रेमिका गोपियाँ थीं, उन्होंने अत्यन्त दुःखित और कातर हृदयसे निम्नाङ्कित उत्तर दिया था:—

मैवं विभोऽर्हसि भवान् गदितुं नृशंसं,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह! मा त्यजाऽस्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
तन्नः प्रसीद परमेश्वर! मास्म छिन्द्या,
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

हे विभो! आपको हमें ऐसा निष्ठुर वचन नहीं कहना चाहिये। संसारके समस्त विषयोंको त्यागकर हमने आपके चरण-कमलोंकी शरण ली है। इसलिये, हे नाथ! जिस

प्रकार आदिपुरुष भगवान् मुमुक्षुओंपर करुणा कर उन्हें अपनाते हैं, उसी प्रकार आप हमलोगों पर दया करें। हे परमेश्वर! हे कमललोचन! हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। चिरकालसे आपके चरणोंमें बँधी हमारी आशा-लताको छिन्न-भिन्न मत करो। पत्थरको भी पिघलानेवाला गोपिकाओंका यह करुणापूर्ण कातर वचन सुनकर करुणामय भक्त-कल्पतरु भगवान्‌को दया आगयी और गोपियाँ प्रेमकी कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण हो गयीं।

प्रेममें दूसरा स्वार्थ यह होता है कि, प्रेमिक और प्रियपात्रके शरीरमें, मनमें, और बुद्धिमें पार्थक्य न हो, दूरी न हो, विरह न हो। उनकी अन्तिम इच्छा यही रहती है कि एक साथ रहें। कोई प्रेमिक अपना सबकुछ त्याग सकता है, किन्तु एक साथ और एक होकर रहनेकी जो मधुर लालसा है, उसको त्यागना उसके लिये मृत्युसे बढ़कर यन्त्रणा है; विरहकी आशंका प्रेमिकका एक प्रधान रोग है। उपर्युक्त ये दोनों बातें प्रेमिकके लिये स्वाभाविक हैं। प्रेम-साधनाकी सिद्धि क्या है, जब इसपर विचार किया जायगा, तो यह विषय स्वतः सामने आजायगा। प्रेमकी अन्तिम सिद्धि दो का एक होजाना है। यही प्रेमका अन्तिम लक्ष्य है। इसके आगे प्रेमकी गति नहीं और न प्रेमका कोई प्राप्तव्य अवशिष्ट

रहता है। इसी कारण कहते हैं कि, प्रेमकी गली इतनी संकीर्ण है कि, उसमें दो समा ही नहीं सकते—उसमें दो नहीं जासकते, दो एक होकर ही जासकते हैं। इसी कारण, प्रेमियोंका पार्थक्य ही प्राणान्त क्लेशप्रद होता है। इन्हीं कारणोंसे किसी-किसीके मतसे जो प्रेमिक अपने प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये इस नैसर्गिक इच्छा और सुखको भी त्याग कर सके, वही आदर्श और सर्वोन्नत प्रेमिक है। अर्थात् किसी प्रेमिकका प्रियपात्र यदि उससे अलग होकर या त्यागकर प्रसन्न हो, अपने प्रियपात्रकी प्रसन्नताके लिये उसका त्याग भी जो सहन कर सके, वही सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ प्रेमिक है।

यद्यपि भगवान्‌के इस अत्यन्त मधुर रसका विलास जगत्‌के जड़-चेतन सब जीवोंमें और विशेषरूपसे मनुष्य-मात्रमें किसी न किसी रूपमें देखा जाता है, तथापि इसके सच्चे स्वरूपके उदयका और सर्वाङ्गपूर्णताका पूर्ण सुयोग दाम्पत्य जीवनमें ही है। क्योंकि, इसमें शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक, ऐहलौकिक या पारलौकिक किसी भी विषयमें कोई भी संकोच या प्रतिबन्ध प्रेमके किसी भाव या अङ्गके विकासमें नहीं हो सकता। वर्त्तमान समयमें, जब कि व्यक्तिगत स्वार्थकी प्रज्वलित अग्निमें समस्त संसार छार-खार

होने जा रहा है, व्यक्तिगत, जातिगत और राष्ट्रगत ईर्ष्या, द्वेष, डाह, पर-पीड़न आदि स्वार्थजनित मनोवृत्तियाँ जगत्को जर्जरित कर रही हैं, ऐसे कठिन करालकालमें भी यहाँ आत्म-बलिदान और त्यागमय जिस आदर्श प्रेमका चित्र चित्रित किया जा रहा है, वह यद्यपि दुर्लभप्राय हो गया है, फिर भी उस प्रेमके उच्च आदर्शका नमूना आदर्श सती-जीवनमें अब भी पाया जाता है। उस आदर्श प्रेमकी चरितार्थता पूर्वकालमें भी देवी-सतियोंने की थी और आज भी उसकी चरितार्थता सती-चरित्रोंमें ही देखी जाती है। पति-प्रसन्नता ही जिनका एकमात्र व्रत है, ऐसी पतिव्रता देवियाँ सच्चे प्रेम-पथकी पथिक हैं, सच्चे प्रेमकी पुजारिणी हैं, सच्चे प्रेमकी आधार हैं और सच्चे प्रेमकी प्रत्यक्ष प्रतिकृति हैं। वे पतिके लिये खातीं, पतिके लिये पीतीं, पतिके लिये सोतीं, पतिके लिये जागतीं, पतिके लिये जीतीं और पतिके लिये ही मरती हैं। उनका बाहर-भीतर, शरीर, मन, प्राण और आत्मा पतिके मधुर प्रेम-रसमें अभिसिंचित रहनेके कारण मानो अग्नि भी उनके लिये शीतल हो जाती है। इसी कारण, चितामें प्रज्वलित अग्निका आलिङ्गन भी उन्हें मधुर प्रतीत होता है और उसमें वे कोई भी कष्ट अनुभव नहीं करतीं। इस तरह जितना अधिक विचार किया जाय,

साध्वी सतियोंके सदाचारमें पवित्र प्रेमकी पूर्णता दृष्टिगोचर होती है।

रसरूप श्रीभगवान् आनन्दमय हैं। आनन्दका अनुभव विना दो के नहीं हो सकता। इसी कारण वैदिक दर्शनोंका सिद्धान्त यह है कि, आनन्दके विकासके लिये ही सृष्टि उत्पन्न होती है। आनन्दके लिये भगवान् एकसे दो होते हैं। सृष्टिका मौलिक कारण इसके सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। दो के द्वारा भी आनन्दका अनुभव तब-तक नहीं हो सकता, जबतक दोनोंकी मनोवृत्तियाँ एकसी न हों, प्रकृति और प्रवृत्ति अनुकूल न हों। आनन्द-प्राप्तिकी इच्छा जीवमात्रमें स्वाभाविक है। इसी कारण मनुष्यसे लेकर निम्नश्रेणीके प्राणियोंमें भी दुःखसे भय और सुखसे आनन्द-प्राप्तिकी उत्कट इच्छा देखी जाती है। इसी आनन्दकी मधुर लालसासे प्रेमिक या प्रेमिका अपने प्रियपात्रके अपने अनुकूल होनेकी इच्छा करते हैं और उससे प्रेम पानेकी भी प्रत्याशा करते हैं। इसके मूलमें उसी आनन्दकी मधुर लालसा लगी रहती है। सती देवियाँ इस स्वाभाविक आनन्देच्छाको भी अपने अधीन करके उसपर विजय प्राप्त कर लेती हैं। इसी कारण वे कोढ़ी, रोगी, क्रोधी, धनहीन, रूपहीन, दुश्चरित्र, लम्पट, वेश्यागामी पतिपर भी प्रेम

करती हैं, इसके अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें और वर्तमान हिन्दुसमाजमें भी मिलते हैं। उनका पतिप्रेम समुद्रके समान गम्भीर और सुमेरुके समान स्थिर होता है। पतिकी कोई भी प्रतिकूल प्रवृत्ति या अवस्था उन्हें डावाँडोल नहीं कर सकती। इसी कारण सतियोंके पति-प्रेमकी महिमा किसीने इस प्रकार गायी है:—

विचलति यदि मेरुः स्वात् पदात् भास्करोऽपि,
जगति यदि समुद्राः शोषमायान्ति सर्वे।
विसृजति यदि तापं पावकोऽपि स्वकीयम्,
चलति न खलु भर्तृप्रेमतो जातु साध्वी॥

अर्थात् चाहे सुमेरुपर्वत अपने स्थानसे टल जाय, सूर्य अपने स्थानसे भ्रष्ट हो जाय, संसारके समस्त समुद्र सूख जायँ, अग्नि अपनी उष्णताको छोड़ दे, परन्तु सतियाँ अपने अचल पतिप्रेमसे कदापि विचलित नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि, उपर्युक्त असम्भव बातें भले ही सम्भव हो जायं, परन्तु किसी भी अवस्थामें सतीके पतिप्रेममें अन्तर नहीं आता। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि, प्रातः स्मरणीया देवी-सतियोंका पतिप्रेम कितना गम्भीर और स्थिर है। वे प्रेमसमुद्रके कितने गम्भीर जलमें गोता लगाती हैं, जहाँ बाहरी तरंगोंका हिल्लोल पहुँच नहीं पाता।

सतीके प्रेममें तारल्य,—चाञ्चल्य,—का नाम नहीं है; उसमें परार्थपरताकी पराकाष्ठा है।

आजदिन संसारमें प्रेमिक-प्रेमिकाओंकी भरमार है। प्रेमकी कहानियोंसे कितने ही कागज काले कर डाले गये और समाचार-पत्रोंमें भी प्रेमगाथाओंका वृत्तान्त बीच-बीचमें देखा-सुना जाता है। इसलिये इस विषयमें यहाँ कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रेमके अनुरूप बाहरसे दिखायी देनेवाली एक और वृत्ति है, जिसको काम कहते हैं। यद्यपि काम प्रेमके ठीक प्रतिकूल वृत्ति है, परन्तु इसकी बाहरी चेष्टा अनेक समयमें प्रेमकीसी प्रतीत होती है। जिस प्रकार दया और मोह एकसी वृत्तियाँ हैं, दोनोंकी बाहरी चेष्टा एकसी है; परन्तु इनकी भीतरी अवस्थाओंमें दिन-रातकासा अन्तर है। पहली सत्वगुणकी वृत्ति है, दूसरी तमोगुणकी। पहलीमें विवेक बना रहता है, दूसरीमें अत्यन्त अन्धकार। इसी प्रकार ध्यान और निद्रा है। बाहरकी चेष्टामें ध्यानस्थित और निद्रित दोनों ही व्यक्ति शान्त और निश्चेष्ट प्रतीत होते हैं। परन्तु एकमें लय-रूपी सत्वगुणकी वृत्ति है, दूसरेमें पूर्ण जड़तारूप तमोगुणकी क्रिया है। एकमें बाहरकी ओर जड़ता और भीतर-भीतर पूर्ण चेतनता है, तो दूसरीमें बाहर-भीतर सब ओर पूर्ण

जड़ता और चेतनाशून्यतारूप तमोगुणका साम्राज्य है। इसी प्रकार प्रेम और काममें प्रकाश और अन्धकार जैसा अन्तर है। प्रेम पूर्णरूपसे परार्थपर है और काम पूर्ण-रूपसे स्वार्थपर। काममें अपनी स्वार्थ-सिद्धिका उद्देश्य रहता है और प्रेममें स्वार्थका बलिदान सर्वप्रथम होता है। प्रेममें समता और काममें विषमता है। कामियोंकी काम-तृप्ति हो जानेपर फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता। वासना-तृप्तिके बाद प्रेमी अपनी प्रेमिकाका सर्वदाके लिये परित्याग भी करता हुआ देखा जाता है। कामी स्त्री-पुरुषोंका प्रेम बरसाती नदियोंकी तरह एकदम उमड़ आनेपर भी वह चिरस्थायी नहीं होता। कामतृप्ति या किसी कारण निराशाके बाद ही वह बरसाती नदी भी सदाके लिये सूख जाती है। इसी कारण धनहीन, रूपहीन, यौवनहीन, वृद्ध या रोगी पुरुषोंकी कोई प्रेमिका नहीं देखी जाती। इसी तरह रूप लावण्य और यौवनसे हीन वृद्धा स्त्रियोंके प्रेमिक भी नहीं देखे-सुने जाते। इन सब विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि, वर्तमान समयमें काम-कलापका विस्तार ही अधिक है, यद्यपि वह हमें प्रेमसा ही प्रतीत होता है।

इस समय जब कि, स्वार्थ और काम ही एकछत्र राज्य करना चाहता है, तो सब ओरसे निर्वासित प्रेमने और कहीं

आश्रय न पाकर सतियोंके पवित्र अन्तःकरणोंमें ही आश्रय लिया है। चाहे ऐसी आदर्श देवियोंकी संख्या बहुत कम ही क्यों न हो, परन्तु अब भी यदि भगवान्के रसमय-रूपका सच्चा विलास देखना हो, तो वह सतियोंके अन्तः-करणोंमें ही देखा जा सकता है। उनके अन्तःकरण पवित्र प्रेमसे परिपूर्ण हैं, उनमें काम और स्वार्थकी छाया नहीं। उस प्रेममें, किसी अवस्थामें भी कमी नहीं पड़ती। सतियोंके प्रेमपुष्पके मधुर सौरभसे उनका परिवार, पड़ोस और समस्त संसार आनन्दित होता है।

तपस्या और नारीधर्म ।

संसारमें जो बड़ेसे बड़े कार्य होते देखे जाते हैं, वे किसी न किसी महान् व्यक्तिकी तपस्याके ही फल हैं। कोई भी कार्य बिना तपस्याके सिद्ध नहीं होता। किसी छोटे कार्यके लिये छोटी तपःशक्ति और बड़े कार्यके लिये बड़ी तपःशक्तिकी आवश्यकता होती है। अपने इस लोकके कल्याणके लिये जो पुरुषार्थ किया जाय, उसे स्वार्थ कहते हैं। अपने परलोकके कल्याणके लिये जो प्रयत्न किया जाय, उसे परमार्थ कहते हैं। दूसरेके इस लोकके कल्याणके लिये जो कार्य किया जाता है, उसको परोपकार कहते हैं और दूसरेके पारलौकिक कल्याणके लिये जो कार्य किया जाय, उसको परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ या परमार्थ, उपकार या परमोपकार सभीकी सिद्धिके लिये तपःशक्तिकी पूरी अपेक्षा रहती है। मनुष्य, यक्ष, राक्षस, देवता और दानव सभीको अपनी-अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये तप करना पड़ता है। कठिनसे कठिन या असम्भव कार्य भी तपःशक्तिके प्रभावसे किये गये हैं। इसके प्रचुर प्रमाण पुराणशास्त्रोंमें पाये जाते हैं। यहाँतक

कि, जगत्के जनक भगवान् ब्रह्माको भी सृष्टि करनेके लिये पहले तप करनेकी आवश्यकता होती है, जगत्के निरन्तर चालक और पालक सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुको भी पालन-कार्यके लिये तपःसंचयकी अपेक्षा रहती है और सर्वसंहारकारी भगवान् सदाशिवको भी महासंहार-कार्यके लिये तपःसंचयकी आवश्यकता होती है। मानो इसी कारण सदा कल्याणरूप भूतभावन भगवान् भवानीपति शंकर सदा तपमें ही तल्लीन रहते हैं। श्रीभगवान्ने कहा है:—

तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ ।
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ॥
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्य्यं मे दुश्चरं तपः ।

अर्थात् तप मेरा हृदय है, तपकी मैं आत्मा हूँ, संसारका पालन सृजन और संहार तपद्वारा ही करता हूँ, दुःसाध्य तप ही मेरा वीर्य है।

तप क्या वस्तु है, इसपर जब विचार किया जाता है, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि, हमारी बिखरी हुई शक्तियोंके संचयका नाम ही तप है। इसीको दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाय कि, स्वाभाविक चञ्चल इन्द्रिय-वृत्तियों और मनोवृत्तियोंको अपने अपने विषयोंसे रोक रखनेका नाम तप है। शरीर, इन्द्रिय और मनके अनर्गल अनुचित उपयोगसे उनकी

शक्तियोंका ह्रास और नाश हो जाता है। इसी शक्तिके नाशसे अन्तमें मनुष्य तेजोहीन, वीर्यहीन, शक्तिहीन और बुद्धिहीन होकर निकम्मा हो जाता है। न वह अपना कुछ कल्याण कर सकता है और न दूसरेका ही। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, देवताओं तककी यही दशा होती है। उग्र तपस्याके प्रभावसे कोई इन्द्रपद प्राप्त करता है और शक्तिके दुरुपयोगसे उनका अन्त हो जानेपर पुनः तपकी ही शक्तिसे असुर उसको छीन लेते हैं और देवता स्वर्गसे निकाल दिये जाते हैं। उस पदकी प्राप्तिके लिये इन्द्रादि देवताओंको पुनः शक्ति संचयरूपी तपकी आवश्यकता होती है। इस तपके मानसिक, वाचनिक और शारीरिक रूपसे तीन भेद हैं और इसके आवान्तर भेद अनेक हैं।

इस तपोधर्मके साथ नारीधर्मका अभिन्न सम्बन्ध है। नारीधर्मका प्राण तपस्या है और नारीधर्म इसी तपोरूपी महान् स्तम्भपर अवलम्बित है। तपस्या और नारीधर्मका आधार-आधेय सम्बन्ध है। कर्ममीमांसा दर्शनमें भी कहा है—

"तपःप्रधाना नार्य्यः"

अर्थात् नारीधर्म तपःप्रधान है। इसी तपस्याके बलसे सती स्त्रियाँ अपने सब सुखभोगकी इच्छाओंको पतिके चरणोंमें लीन कर देती हैं। स्त्रियाँ यदि तपस्विनी न हों, तो वे

कदापि अपने पातिव्रत्यधर्मपालनमें समर्थ नहीं हो सकतीं और न वे अपने महान् पदगौरवकी ही रक्षा कर सकती हैं। सती स्त्री अपनी सब शारीरिक, वाचनिक और मानसिक चेष्टाओंको सब ओरसे खींचकर एकमात्र अपने परमपूज्य आराध्यदेवता पतिके चरणोंमें विलीन कर देती हैं। इस आत्मसंयमरूप तपका प्रारम्भ किस तरह होता है, सो साध्वी गान्धारीके जीवनमें देखिये। देवी गान्धारीने जिस समय सुना कि, उनका विवाह जन्मान्ध पतिके साथ होना निश्चित हुआ है, उसी समयसे एक वस्त्रके टुकड़ेको कई तह करके उन्होंने अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली। उन्होंने सोचा कि, जब पति अन्धे हैं, तो उनको देखनेसे घृणा न उत्पन्न हो। दूसरी बात उन्होंने यह सोची कि, जब पति अन्धे हैं और नेत्र-सुखसे वञ्चित हैं, तो मेरे लिये वह सुख वांछनीय नहीं है। यही सब सोचकर उन्होंने अपने हाथों अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली, जो आजीवन उनकी आँखोंपर बंधी ही रही। धृतराष्ट्र तो जन्मके अन्धे थे, उनकी सती-साध्वी स्त्री गान्धारी आँखें रहते हुए अपने आप अन्धी बनी रहीं।

यदि पति अनुकूल और प्रेमिक होता है, तब तो इस व्रतके पालनमें कोई कठिनाई नहीं होती। सती स्त्री पति-प्रेममें विभोर होकर संसारकी सब भावनाओंको भूली रहतीं

हैं। विचार द्वारा माता सतियोंकी जो चेष्टाएँ हमें तपके रूपमें प्रतीत होती हैं, वह उनका स्वभाव हो जाता है। पति-प्रेममें वे इतनी विभोर हो जाती हैं कि, पतिके विना उनका जीना असम्भव हो जाता है और जलती चिताकी अग्नि-शिखामें हँसती-हँसती वे अपने शरीरकी आहुति दे देती हैं। यदि पति प्रतिकूल, क्रूर, विपथगामी और अयोग्य होता है, तो सतीकी यह तपकी शक्ति और भी प्रचण्डरूप धारण करती है; क्योंकि विपत्ति और सन्धिमें ही धैर्यकी परीक्षा होती है। जहाँ धर्मपालनमें असुविधा और कठिनाई हो, वहाँपर जो अपने मार्गपर या धर्मपर अटल रह सके, उसके धैर्य, सहनशीलता और तपस्याकी तुलना नहीं हो सकती। ऐसी असुविधामें तपाए हुए सोनेके समान सतियोंका तेज और भी प्रज्वलित हो उठता है। सती ऐसे असाधारण तपोवलसे त्रिलोकको जीत लेती है। वह तपस्विनी अपने प्रबल तपोबलसे पतित पतिको भी नरकसे उबार लेती है, यथा—

व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात्।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते॥

अर्थात् सँपेरा जिस प्रकार बलपूर्वक बिलसे साँपको निकाल लेता है, उसी प्रकार सती स्त्री नरकमें पड़े पतित

पतिका उद्धार करके उसके साथ सतीलोकमें दिव्य सुख भोगती है। इससे यही सिद्ध होता है कि, सती स्त्रियाँ अपने प्रचण्ड तपोबलसे दूसरेके कर्मस्रोतको भी एक ओरसे दूसरी ओर पलट देनेमें समर्थ हो जाती हैं, जो बड़े-बड़े योगियोंके लिये भी दुःसाध्य है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं कि, किसी सतीने मृतकको जिला दिया, सूर्यको स्तम्भित कर दिया, इत्यादि। जैसा कि, सती नर्मदाने अपने पातिव्रत्यके प्रतापसे सूर्यकी गति रोक दी थी और देवी अनसूयाने मुर्दोंको जिला दिया था। यहाँतक कि, छलनाके लिये आये हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी विवश बालक बनाकर उसने पलनेमें सुला दिया था। ऐसे ऐसे अद्भुत कार्य पतिप्राणा तपस्विनी सतियाँ अपने तपके प्रबल प्रतापसे अनायास कर डालती हैं। सतियोंकी समुज्वल कीर्तिका वर्णन परमाराध्य पूज्यपाद महर्षियोंने निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—

तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि हि दह्यते।
कल्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥

अर्थात् पातिव्रत्यके तेजसे ही सूर्य तपते हैं, आग जलती है और जहाँ कुछ तेज है, वह सब पातिव्रत्यके तेजका ही अंशमात्र है—

ये सब शक्तियाँ पतिव्रताकी पतिपूजारूपी तपके प्रभावसे स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। सतीके परमदेवता पतिकी आराधनामें शारीरिकतप, वाचनिकतप और मानसिकतप, तीनोंका ही स्वाभाविकरूपसे नियमपूर्वक अनुष्ठान होता रहता है। पूज्य पतिदेव जो वस्तु नहीं खाते, सतियाँ उसे छोड़ देती हैं। पतिको विना खिलाये नहीं खातीं। परमदेवता पतिके लिये ही भोगरूपसे भोजन वनाती हैं। इससे जिह्वाका संयमरूप कठिन तप स्वतः होता है। पतिके प्रति प्रेमसे सिंचित वाक्य ही वे बोलती हैं। कभी किसीके लिये अशुभ, कठोर या निरर्थक शब्द उनके मुँहसे नहीं निकलते। यही सतीयोंमें वाचनिकतपकी पूर्णताके लक्षण हैं। सतीका परम-पुनीत मन सब ओरसे सिमटकर परमोपास्य पतिके चरणचिन्तनमें ही लीन रहता है। परमकल्याणरूपिणी सती मनसे कभी किसीका अशुभ नहीं चाहती, यही उसका मानसिकतप है। पतिव्रताका शरीर एकमात्र परमाराध्य पतिकी सेवाके लिये ही होता है। उसके शरीरकी सब चेष्टायें एकमात्र पतिपूजाके लिये ही होती हैं। इसी कारण पतिका शरीरान्त होनेपर अपना शरीर रखनेकी वह कोई आवश्यकता नहीं समझती और पतिकी धधकती चितामें उसकी आहुति दे देती है। यह शारीरिक तपकी पराकाष्ठा नहीं तो

क्या है? शारीरिक तपके फलसे उनका शरीर उनके अधिकारमें हो जाता है। यही कारण है कि, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि शरीरके द्वन्द्वोंसे उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। वाचनिक तपके प्रभावसे पतिव्रता सतियोंके वचन सिद्ध हो जाते हैं। शुभ या अशुभ जो कुछ वे अपने मुँहसे निकालती हैं, वह सत्य हो जाता है। मानसिकतपके प्रभावसे उनका मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है और उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। जिससे वे जो घटनायें जानना चाहती हैं, जान लेती हैं। यहाँ तक कि, जगत्के स्रष्टा, पालक और संहार करनेवाले भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, और भगवान् रुद्रको भी ऐसी सतियोंके तपस्तेजसे परास्त होना पड़ा है। इसका वर्णन पुराणोंमें इस प्रकार पाया जाता है।

एक वार आदर्शसती पतिव्रता देवी अनुसूयाके पातिव्रतकी ख्यातिसे भगवती लक्ष्मी, सरस्वती और शिवाको डाह उत्पन्न हुआ। इन तीनोंने अपने अपने पतियोंसे अनुसूयाकी परीक्षा लेनेके लिये अनुरोध किया। पहले तो भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, भगवान् शिव तीनोंने अपनी अपनी शक्तियोंको अनुसूयाके सतीत्वकी महिमा कहकर समझायी। किन्तु उन तीनोंने नहीं माना और अपने अपने पतिको अनुसूयाके सतीत्वकी परीक्षा लेनेको वाध्य किया। इस तरह अपनी

अपनी शक्तियोंके अनुरोधसे भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और शिव साधुका वेष बनाकर सती अनुसूयाके आश्रममें पहुँचे और उनसे इच्छाभोजन माँगा। सतीने स्वीकार कर लिया। भोजन तैयार होनेपर तीनोंने अनुसूयासे नङ्गी होकर भोजन परोसनेकी इच्छा प्रगट की। अनुसूयाको संयम करनेसे मालूम हो गया कि, ये तीनों साधारण साधु नहीं, किन्तु संसारके स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहर्त्ता साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। अनुसूया बड़ी असमंजसमें पड़ी। यदि वह इच्छा भोजन देती है, तो सतीत्व भंग होता है और नहीं देती, तो वचन व्यर्थ होता है। इस द्विविधामें पड़कर उसने पूज्यपतिके चरणोंका ध्यान किया। उसे एक पुरानी बातका स्मरण हो आया। अनुसूयाकी कठिन तपस्यासे प्रसन्न होकर किसी समय तीनोंने उसे वर दिया था कि, हम तुम्हारे पुत्ररूपमें प्रकट होंगे। अनुसूयाने इस वरका स्मरण कर और हाथमें जल लेकर उनसे कहा — "मैं यदि मन, वचन और कर्मसे सच्ची पतिव्रता हूँ और आपका वरदान सत्य है, तो आप तीनों मेरे बालक हो जाँय और मेरा स्तनपान कर अपनी इच्छा पूरी करें।" यह कह कर उनपर जल छिड़कते ही तीनों समानरूपसे बालक हो, रोनेलगे। देवी अनुसूया बड़े प्रेमसे उनका लालन-पालन

करने लगी। इसी तरह वहुत दिन बीत गये। उधर पतियोंके बहुत दिनों तक नहीं लौटनेसे ब्रह्माणी, रमा और शिवा बड़ी ही चिन्तामें पड़ीं। उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, कहीं उनके पतियोंका पता नहीं चला। तब उन्होंने इस विषयमें नारदसे पूछा। नारदजीने कहा कि, उन तीनोंके पति अनुसूयाके घर वालक वनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। तव वे तीनों अनुसूयाके पास पहुँचीं। उन्होंने उनसे क्षमा माँगी और अपने अपने पतियोंको पूर्वरूपमें परिणत कर देनेकी प्रार्थना की। अनुसूयाने पुनः पतिदेवताका स्मरण कर उन वालकोंपर जल छिड़का। जल छिड़कते ही भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश पूर्वरूपमें परिणत हो गये और अनुसूयाके सतीत्वकी वहुत बड़ाई कर अपनी अपनी शक्तियोंके साथ अपने अपने लोकोंको गये।

ऐसी त्रिलोकपावनी सतियोंने अपने प्रदीप्त पातिव्रत्यके प्रतापसे क्या नहीं किया? इसी तपोमूलक पातिव्रत्यके प्रभावसे वे त्रिलोकवन्द्या हुई थीं। जिन्होंने सतीत्वशास्त्रकी सहायतासे समस्त विश्वपर विजय पायी थी। आज उन्हीं सतियोंकी सन्तान ललनायें अपनी अमूल्य, अतुलनीय सतीत्वसम्पत्तिको उच्छृङ्खलवासनाओंके क्षणिक सुखके लिये लुटानेको ठान रही हैं। यह देख, किस विचारशील

व्यक्तिका हृदय भावी अशुभकी आशंकासे काँप नहीं उठेगा ?

सब धर्मोंमें तपोधर्मकी बड़ी भारी शक्ति और महिमा है। सब धार्मिकोंके लिये तपोधर्म-पालनकी पूरी अपेक्षा रहती है। इसी कारण ब्रह्मचर्य आश्रममें तपकी प्रथम शिक्षा होती है। गृहस्थाश्रममें उसकी शिक्षा विस्तारसे होती है। साथ-ही-साथ उसका अभ्यास भी होता है। वानप्रस्थ-आश्रम तो तपका रूप ही है और संन्यास तपोधर्मका फल है। क्या मनुष्य, क्या देवता, सबको जो कुछ ऐश्वर्य और शक्तिकी प्राप्ति होती है, वह सब तपश्चर्यासे ही होती है। इसके प्रमाण पुराणशास्त्र, विज्ञान-शास्त्र और दर्शन-शास्त्रोंमें पाया जाता है। ऐसे त्रिलोकपवित्रकारी और सर्वशक्तिमान् तपकी भित्तिपर ही नारीधर्म प्रतिष्ठित है। इस कारण सतीत्त्वमूलक नारीधर्मकी महिमा जितनी कही जाय, थोड़ी है।

पातिव्रत्य और योग।

योग-शास्त्रके सिद्धान्तानुसार जिन-जिन क्रियाओं अथवा चेष्टाओंसे चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायँ, उसीका नाम योग है। मनुष्यके अन्तःकरणमें नाना प्रकारकी भली-बुरी वृत्तियाँ उठकर मनको डाँवाडोल करती रहती हैं। उस मन-रूपी महासागरमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्षा, द्वेष आदि नाना प्रकारकी वृत्तियोंके घात-प्रतिघातसे उद्वेग-रूप उत्ताल तरङ्ग उठा करते हैं। बहिर्मुख वृत्तियोंके प्रबल स्रोतमें बलात् बहता हुआ, डूबता-उतराता हुआ, मनुष्य कहाँ जा लगता है, इसका पता नहीं। इन बहिर्मुख वृत्तियोंके प्रबल वेगमें पड़कर मनुष्य हर समय कुछसे कुछ बनता रहता है। मनुष्यमें जब सरलता, सौजन्य, परोपकार, प्रेम, दया, कृपा आदि सद्वृत्तियोंका उदय हो, उस समय वह देवताके समान बन जाता है और जब मनुष्य लोभ, दम्भ, दर्प, अभिमान, इन्द्रिय-लोलुपता आदि असत् वृत्तियोंके अधीन हो, तब वह असुर भावापन्न बन जाता है। वह जब प्रमादसे केवल परपीड़न, हिंसा, द्वेष और लोकक्षयनिरत होता

है, तब वही राक्षस बन जाता है। इस प्रकारसे चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, दिन रात वे वृत्तियोंके आवेशमें कभी कुछ कभी कुछ बनते रहते हैं। दर्शनकारोंने सिद्ध किया है कि, जब मनुष्य सत्वगुणकी वृत्तियोंमें मग्न रहता है तब वह देवता है, जब रजोगुणकी वृत्तियोंमें डूबा रहता है, तब वह असुर है और जब तमोगुणकी वृत्तियोंमें तल्लीन रहता है, तब वह राक्षस है। इसी कारण योग-शास्त्रने मनुष्यको इन वृत्तियोंका पुतला मात्र बतलाया है। यथा योगदर्शनमें—

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र"

अर्थात् अन्यथा वृत्तिका रूप ही बन जात है। वास्तवमें यदि विचार कर देखा जाय, तो विचारशील व्यक्ति यही अनुभव करेंगे कि, प्राणी रोता-गाता, हँसता-खेलता, क्रोध, शोक, मोह करता हुआ जीता-जागता वृत्तियोंका एक पुतला मात्र है। उसके अन्तःकरणमें जब आनन्ददायक वृत्तियाँ उठती हैं, तब वैसा ही उसका रूप बन जाता है और उसी तरह चेष्टाएँ भी करने लगता है। उसमें जब कष्टकर वृत्तियाँ उठती हैं, तो उसीके अनुकूल उसका रूप और बाहरी चेष्टायें होती हैं। सारांश, मनुष्यको मूढ़ बनाकर संसार-सागरमें डुबानेवाली, बारबार जन्म-मरणरूप आवागमनके चक्रमें घुमानेवाली और संसारकी सब अनर्थोंकी जड़

मनुष्यकी मनोवृत्तियाँ ही हैं। ये ही वृत्तियाँ बड़े-बड़े शूर, संयमी, साधक, तापस, योगी, उपासक, कर्मी और धीर ज्ञानी पुरुषोंको भी समय-समयपर लक्ष्यच्युत और बेहाल कर डालती हैं। अतएव, योगशास्त्रके प्रवर्तक पूज्यपाद महर्षि भगवान् पतञ्जलिने इन सब अनर्थोंकी मूल वृत्तियोंको ही पकड़ा और यह सिद्धान्त निश्चित किया कि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। यही उन्होंने योगका लक्षण कहा है। क्योंकि,—

"क्षीणे मूले नैव शाखा न पत्रम्"

मूलके निर्मूल हो जाने पर शाखा या पत्र कुछ नहीं रह जाता। इसके आगे चलकर चित्तवृत्तियोंके निरोधसे एक-तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है, इस विषयपर पूज्यपाद महर्षिने विचार किया एवं इसी प्रसंगमें वृत्तिनिरोधपर एक-तत्त्वकी प्राप्तिके कई उपाय बताये हैं। उनमें एक सूत्र यह है—

यथाऽभिमतध्यानाद्वा।

अर्थात् इच्छाके अनुकूल अपने प्रिय किसी एक रूपका ध्यान करनेसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होकर एकतत्त्वकी प्राप्ति होती है। योगकी इस साधन-शैलीका अनुसरण

सतियाँ स्वभावसे ही करती हैं। साधारणतया पतिव्रता स्त्रियोंको अपने प्रिय पतिदेवसे सुन्दर स्वरूपवान संसारमें कोई भी व्यक्ति नहीं दिखाई देता। उनकी दृष्टिमें उनके पूज्य पतिदेव ही संसारके सब रूप तथा गुणोंके आकर दिखाई देते हैं। उनसे अधिक प्रिय उनके लिये जगत्में कोई नहीं होता। इस कारण स्वतः ही उनकी मनरूपी नदीका चिन्ता-तरंग पति-समुद्रमें ही जाकर सदा विलीन हुआ करता है। अतः पतिदेवके प्रियतमरूपमें मन लगा रहनेसे उनकी वाहरी विषयोंमें बहकनेवाली वृत्तियाँ स्वतः सिमट जाती हैं। इसको योगशास्त्रमें प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार योगका पाँचवा अंग है। योगके आठ अंग हैं। यथा योगदर्शनमें—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योगके आठ अंग हैं। इनमें चार वहिरङ्ग और चार अंतरङ्ग साधन हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम वहिरङ्ग तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अंतरङ्ग अर्थात् भीतरी साधन हैं। योगके इन आठ अंगोंमेंसे कुछका साधन तो आदर्श सती-जीवनमें स्वतः ही होता है और कुछका क्रिया रूपसे

साधन नहीं होनेपर भी उनकी सिद्धिका लक्षण साध्वी सतियोंमें देखा जाता है। जैसे यम और नियम इन दोनोंका पालन सतियोंको करना नहीं पड़ता, यह उनका स्वभाव हो जाता है। यम-नियमका पूरा स्वरूप सामने आते ही इस बातको पाठक-पाठिकाएँ स्वयं समझ सकेंगी। योगदर्शनमें कहा है—

अहिंसा सत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहा यमाः।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह ये यम कहाते हैं। इनमेंसे प्रत्येककी पूरी प्रतिष्ठा सतीमें होती है। पतिप्रेममें पगी रहनेके कारण सतीका हृदय इतना कोमल, स्निग्ध और मधुर हो जाता है कि, उसके हृदयमें हिंसा जैसी कठोर वृत्ति आश्रय नहीं पाती। ऐसी सती न मनसे किसीका अशुभ सोचती है, न मुँहसे निकालती है और न क्रियासे ही करती है। उसका हृदय स्नेह, दया, प्रेम आदि मधुर और कोमल वृत्तियोंसे ही परिपूर्ण रहता है। वह अपने मधुर रससे अपने परिवार, पड़ोसी और जगत्को भी परिप्लावित करती है। ऐसे हृदयमें हिंसा जैसे कटु कर्मको स्थान कहाँ ? अतः सतियोंमें अहिंसा पूरी मात्रामें प्रतिष्ठित रहती है, इसमें सन्देह नहीं। सतियाँ वाक्सिद्ध होती हैं।

जो वे कहती हैं, वही हो जाता है। यह सत्य-प्रतिष्ठाका लक्षण है। सतियोंके ऐसे उन्नत हृदयोंमें चोरीकी कल्पना भी नहीं आ सकती। सती देवियाँ एकमात्र अपने पतिकी प्रसन्नता और सेवाके लिये ही उसके इच्छानुसार काम-कलापमें प्रवृत्त होती हैं। उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा उसमें कारण नहीं होती। इस कारण वे सदा ब्रह्मचारिणी रहती हैं। भगवती सीताने कहा है:—

शुश्रूषमाणा भर्तारं नियतं ब्रह्मचारिणी।
अचिन्तयन्ती त्रील्लोँकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥

अर्थात्—मैं संयमशीला और ब्रह्मचारिणी रहकर सदा स्वामीकी सेवा करती हूँ। पातिव्रत्यके अतिरिक्त मुझे तीनों लोकोंका कभी ध्यान नहीं आता।

सती स्त्रियाँ पतिकी प्रसन्नता और सेवाके लिये अनेक भावोंके अनेक रूप धारण करती हैं। सीताके विरहमें व्याकुल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मणसे कहा था:—

कार्य्येषु मन्त्री, करणेषु दासी,
धर्मेषु पत्नी, क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता, शयनेषु रम्भा,
रङ्गे सखी लक्ष्मण! सा प्रिया मे॥

अर्थात्—हे लक्ष्मण! मेरी प्यारी सीता कार्य्योंमें मन्त्रीके समान, सेवामें दासीके समान, धर्मानुष्ठानके समय धर्मपत्नी और क्षमामें पृथ्वीके समान है। स्नेहमें माताके समान, शयनमें रम्भाके समान और मोद-प्रमोदके समय सखीके समान है।

महाभारतमें लिखा है:—

भार्य्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।

अर्थात् केवल ऋतुके समय भार्य्याका गमन करनेवाला द्विज ब्रह्मचारी ही होता है। जब ऐसा है, तो जो सती स्त्रियाँ अपनी सब इच्छाओंका दमन करती हुई पतिकी सेवाके लिये उसीके इच्छानुसार सब कार्य्य करती हैं, वे अवश्य ही ब्रह्मचारिणी हैं, इसमें संशय नहीं। अपरिग्रहके लक्षण अर्थात् किसीसे कुछ न लेना भी उनमें देखा जाता है। पतिदेव जिस दशामें रखें, उसीमें प्रसन्न रहनेवाली सतियोंको किसीसे कुछ माँगने या ग्रहण करनेकी क्या अपेक्षा रहती है? इस प्रकार विचार कर देखनेसे यह विदित होता है कि, यमके पूरे लक्षण सती देवियोंमें पाये जाते हैं।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये नियम कहाते हैं। शौचके दो भेद हैं; यथा—अन्तःशौच और बहिःशौच। स्नानादि द्वारा शरीरकी शुद्धिको बहिःशौच

और मैत्री, सरलता आदि सद्वृत्तियोंद्वारा मनके मैलके धोनेको अन्तःशौच कहते हैं। ऐसी अन्तर्वहिःशौचसम्पन्ना आदर्श सती जिस देश या जिस लोकमें रहती है, वह देश और लोक जब पवित्र हो जाता है, तो उसकी शारीरिक और मानसिक पवित्रतामें कैसे कमी समझी जा सकती है? पतिदेवकी सेवामें निरत सती अपनेको सदा सुखी समझती है, उसे कोई कष्ट बोध नहीं होता, यह उसमें संतोषके लक्षण हैं। शारीरिक, वाचनिक, मानसिक, त्रिविध तप उसमें कैसा विद्यमान रहता है, सो नारी-धर्म और तपस्या शीर्षक प्रवन्धमें भली-भांति सिद्ध किया गया है। अतः यहाँ उसके पुनः विश्लेषणकी आवश्यकता नहीं है। मोक्ष-धर्मका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके पठन-मननको स्वाध्याय कहते हैं। इसकी सिद्धिके लक्षण भी किसी-किसी सती स्त्रीमें पाये जाते हैं। जैसी सती मदालसा आदर्श सती भी थी और मुक्त भी थी। ऐसी स्त्रियाँ पतिकी उपासना ईश्वरके रूपमें करती हैं। अतः ईश्वर-प्रणिधान भी उनमें अवश्य रहता है। इस तरह नियमके सब साधन सतियोंमें पाये जाते हैं। आसन और प्राणायामका साधन क्रिया-रूपमें न होनेपर भी इनकी सिद्धि, शरीर और चित्तकी स्थिरता और बुद्धिकी विमलता आदि, सती देवियोंको स्वतः प्राप्त

होती है। जब सतीकी शारीरिक चेष्टा और मानसिक चेष्टा पतिके ही अधीन बनी रहती है, तो सतीमें आसनसिद्धि और प्राणायामसिद्धिके लक्षण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं; ऐसा मानना ही पड़ेगा। कछुआ जैसे अपने हाथ-पैरको सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंसे समेट कर अन्तः-करणके शुद्ध स्वरूपकी ओर लानेको प्रत्याहार कहते हैं। पतिप्राणा सतीमें प्रत्याहार तो सदा ही बना रहता है। अन्तजगत्के किसी स्थानविशेषमें चित्तके ठहरानेको धारणा कहते हैं। प्रत्याहारके बाद धारणाका अधिकार है। साध्वी सतियोंकी धारणा-शक्ति कितनी प्रबल होती है, इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि, पातिव्रतकी प्रबल धारणाके बलसे उग्रसे उग्र और कठिनसे कठिन कार्य्य, बिना कोई कष्ट अनुभव किये ही वे कर डालती हैं। इच्छाके अनुसार शरीर छोड़ देना यह योगके किसी क्रिया-विशेषसे होता है। पतिका वियोग होनेपर पतिव्रतायें जल मरनेके सिवाय भी यों ही अपना शरीर छोड़ देती हैं, इसका उदाहरण अब भी देखा-सुना जाता है। यह क्रिया योगिजन योगकी सहायतासे करते हैं, जिसके लिये उन्हें अनेक प्रकारकी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। परन्तु सतियाँ इसे भी अपने पातिव्रत-योगसे ही करती हैं। सतीत्वके

बलसे और पतितन्मयताके प्रभावसे सतीकी धारणा-शक्ति स्वतः ही इतनी बढ़ जाती है कि, वह अपनी इच्छाशक्तिके द्वारा शरीरसे ही अग्निको उत्पन्न करके अपने शरीरको भस्म कर देती है और मृत्युका समय उपस्थित न होनेपर भी अपनी इच्छाशक्तिके बलसे अपने स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरको निकालकर परलोकमें चली जाती है। अन्तिम-सतीदाह जब बंगालके त्रिवेणीतटपर हुआ था, तो हुगलीके कई सरकारी अंग्रेज अफसरोंने और कई अंग्रेज पादरियोंने सतीकी प्रतीति पानेका प्रयत्न किया था और वे बंगाल गज़ेटियरमें लिख गये हैं कि, उनको यह प्रमाण देनेके लिये कि, सतीको देहाध्यास नहीं रहता, उस सतीने उन अफसरोंके सामने अपनी दो अंगुलियोंको जलाकर हँसते-हँसते भस्म कर डाला था; जिसको देखकर वे अफसर चकित हुए थे और उन्होंने सतीको प्रणाम किया था। ये सब योगके छठे अंग—धारणा—का ही प्रभाव है, जो सच्ची सतियोंमें तपके प्रभावसे स्वतः प्रकट हो जाता है।

स्वभावसे ही योगिनी पतिव्रता सतीके विषयमें वेदों और शास्त्रोंमें ऐसी स्पष्ट आज्ञा है कि, यदि पति प्रेतलोक अथवा नरकलोकमें पहुँच जाय, तो सती अपनी ध्यान-शक्तिके प्रभावसे अपने पास अपने ही सतीलोकमें अपने पतिको

बुला लेती है। दैवी-क्रिया अथवा देवतागण उसमें बाधा नहीं दे सकते। योगिनी सतीमें जो सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, वे सब उसके समाधिवलके ही प्रत्यत्त प्रमाण हैं। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, तपोधर्मपरायणा सती स्त्रियाँ अपने सतीत्त्वधर्मके बलसे विना परिश्रम किये योगके अष्टाङ्गोंके फलकी प्राप्ति कर लेती हैं। ध्यान और समाधि-सिद्धि भी उनमें होती है। ध्यानद्वारा वे दूरकी घटनायें और दूसरोंके मनकी वात भी जान जाती हैं। इस प्रसंगमें महाभारतके वनपर्वमें एक उपाख्यान है। उसका वर्णन इस प्रकार है:—"कौशिक नामक एक वेदपाठी तपस्वी और धर्मात्मा ब्राह्मण थे। वे एक वृत्तके नीचे वैठकर वेदपाठ कर रहे थे। वृत्तके ऊपर वैठे हुए एक बगलेने उनके शरीरपर वीट कर दी, ब्राह्मणने क्रोध करके उसकी ओर देखा, तो वह पत्ती मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसे मरकर पृथ्वीपर गिरते देख, वाह्मणको दया आयी और वड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे कहने लगे कि, मैंने क्रोधके वश होकर वहुत बुरा काम कर डाला। इस प्रकार वार वार दुःख करते हुए वे गाँवमें भित्ताके लिये गये। वहाँ पवित्र आचारवाले गृहस्थोंके द्वारपर वे भित्ताके लिये भ्रमण करने लगे। घूमते घूमते वे एक ऐसे गृहस्थके मकानपर गये, जहाँ वे

पहले कई वार भिक्षा पा चुके थे। द्वारपर पहुँचकर उन्होंने भिक्षा माँगी। भीतरसे गृहिणीने उत्तर दिया कि, मैं भिक्षाका पात्र माँज रही हूँ। थोड़ा ठहर जाइये। इसी बीचमें, उसका भूख-प्याससे व्याकुल पति बाहरसे घर आ गया। तब वह पतिव्रता स्त्री पतिको आये हुए देखकर पाद्य, अर्घ्य, आचमन, आसन और मधुर स्वादिष्ट भोज्य-पदार्थादिसे उसकी सेवा करने लगी। उसे ब्राह्मणको भिक्षा देनेका कुछ विचार नहीं रहा। वह स्त्री पतिव्रता सदाचारिणी थी। वह पतिको परम देवता समझकर अनन्य भावसे मन-वचन-शरीरसे पतिकी सेवामें तत्पर रहती थी। उसका सब समय देवता, अतिथि, सेवक और सास-ससुरकी सेवामें बीतता था। पतिकी सेवासंलग्न सतीको उस भिक्षार्थी ब्राह्मणका स्मरण आगया, तब वह बहुत लज्जित हुई और उसी समय भिक्षा लेकर ब्राह्मणको देने गयी। ब्राह्मणने कहा—"भद्रे! तुमने 'ठहरो' कहकर मुझे क्यों रोक लिया? अवकाश नहीं है, कहकर उसी समय विदा क्यों नहीं कर दिया?" ब्राह्मणको क्रोधसे जलता देखकर उसे शान्त करती हुई पतिव्रता बोली—"ब्रह्मन्! आप विद्वान् हैं, इसलिये क्षमा कीजिये। पतिको मैं सबसे बढ़कर पूजनीय और परम देवता समझती हूँ। वे थके, भूखे-प्यासे बाहरसे आये थे, मैं उनकी

सेवामें लगी हुई थी।" ब्राह्मणने कहा—"तुम ब्राह्मणको पूज्य नहीं मानती? तुम्हारी समझमें पति ही एक मात्र पूजनीय है? तुम गृहस्थाश्रममें रहकर ब्राह्मणोंका अनादर करती हो? किन्तु मनुष्यकी कौन कहे, इन्द्र भी ब्राह्मणोंको देखकर प्रणाम करते हैं। हे गर्विनी! तुम क्या यह नहीं जानती कि, ब्राह्मण अग्निके समान होते हैं? तुमने क्या बड़े बूढ़ोंसे यह नहीं सुना कि, ब्राह्मण कुपित होकर सम्पूर्ण पृथ्वीको भस्म कर सकते हैं?" पतिव्रताने कहा—"हे द्विज! मैं बगला नहीं हूँ। इसलिये कोप न कीजिये। आप क्रोधकी दृष्टिसे मेरा कुछ भी नहीं कर सकते। भगवन्! देवतुल्य ब्राह्मणोंका अनादर मैं नहीं करती। इसलिये आप मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके तेज और महत्वको अच्छी तरह जानती हूँ। ब्राह्मणोंने ही क्रुद्ध होकर समुद्रका जल खारा कर दिया और उसे पीने योग्य नहीं रखा। ब्राह्मणोंके कोपकी आग अब तक दण्डकारण्यमें सुलग रही है। तपस्वी ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेसे ही क्रूर, दुरात्मा, असुर वातापी महर्षि अगस्त्यके पेटमें जाकर पच गया। मैंने ब्राह्मणोंका प्रभाव बहुत कुछ सुना है। उनमें क्रोध भी अपार है और क्षमा भी अपार है। इसलिये प्रार्थना करती हूँ कि, मेरे अपराधको

क्षमा कीजिये। हे ब्रह्मन्! मैं पतिकी सेवाको ही सबसे बड़ा धर्म समझती हूँ। पतिको ही मैं सब देवताओंसे बड़ा देवता मानती हूँ। इसी कारण सबसे पहले मैं पतिकी सेवा करती हूँ। भगवन्! पति-सेवाका प्रभाव देखिये। आपने क्रोध करके वनमें वगलेको जलाया है, यह हाल मुझे घर बैठे मालूम हो गया। हे द्विजश्रेष्ठ! क्रोध एक ऐसा शत्रु है, जो मनुष्यके अपने ही शरीरमें रहता है। जो कोई क्रोध और मोहको छोड़ सकता है, उसे ही देवताओंने ब्राह्मण कहा है। जो इस लोकमें प्राणसङ्कट आजानेपर भी सच ही बोलता है, सदा गुरुको प्रसन्न रखता है, किसीके द्वारा सताये जानेपर भी आप उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे ही देवताओंने ब्राह्मण कहा है। जो जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ, स्वाध्यायनिरत, पवित्र-हृदय होकर काम-क्रोधको अपने वशमें कर चुका है, उसे ही देवताओंने ब्राह्मण कहा है। जो सब लोगोंको अपने समान जानता है, सब प्रकारके धर्म्मकार्योंमें प्रेम रखता है, उसीको देवताओंने ब्राह्मण कहा है। जो पढ़ता-पढ़ाता, यज्ञ करता-कराता और यथाशक्ति दान भी करता है, उसे ही देवताओंने ब्राह्मण कहा है। जिस श्रेष्ठ ब्राह्मणने ब्रह्मचारी रहकर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है और जो सावधानीसे नित्य उसका स्वाध्याय करता

है, उसीको देवताओंने ब्राह्मण कहा है। ब्राह्मण लोग सदा शुभ और सत्य वाक्योंका प्रयोग करते हैं। उनका मन कभी मिथ्यामें नहीं रमता। हे द्विजवर! स्वाध्याय, क्रोधत्याग और इन्द्रिय-दमन ही ब्राह्मणोंका धन माना गया है। धर्म्मात्मा पुरुषोंने सत्य और सरलताको ही परमधर्म कहा है। भगवन्! सनातनधर्मको जानना बहुत कठिन है, किन्तु संक्षेपमें इतना जान लेना ही बहुत है कि, वह धर्म्म सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। बड़ोंका उपदेश है कि, श्रुति ही धर्म्मके विषयमें सर्वोपरि प्रमाण है। श्रुतिमें धर्म्मका वर्णन अनेक प्रकारसे किया गया है। इसीसे कहती हूँ कि, धर्म्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है। भगवन्! आप भी धर्म्मात्मा, स्वाध्याय-निरत और पवित्र हैं; परन्तु मैं तो यही कहूँगी कि, धर्म्मके ठीक ठीक तत्त्वका अभी आपको ज्ञान नहीं हुआ है। हे विप्र! आप यदि धर्म्मके श्रेष्ठ तत्त्वको नहीं जानते, तो मिथिलापुरीमें जाकर धर्म्मव्याधसे पूछिये। वह आपको सब प्रकारके धर्म्म बता देगा। हे ब्रह्मन्! आपका कल्याण हो। यदि आप धर्म्मको जानना चाहते हैं, तो उस सत्यवादी, जितेन्द्रिय, पिता-माताकी सेवामें तत्पर व्याधके पास जाइये। हे द्विज! जो कुछ अनुचित या कड़ी बात मेरे मुँहसे निकल गयी हो, उसके लिये मैं आपसे क्षमा

चाहती हूँ। धर्म्मात्मा पुरुष स्त्रियोंको अवध्य कह गये हैं, इस कारण आपको क्षमा करनी चाहिये। ब्राह्मणने कहा—"हे कल्याणरूपिणि! तुम्हारा मंगल हो। मेरा क्रोध जाता रहा। मैं तुमपर वहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे इन कड़े वचनोंसे मेरी वहुत भलाई हुई। हे शुभे! अव मैं अपना काम करने जाता हूँ।" इस उपाख्यानसे यह सिद्ध होता है कि, पतिवृता सतीको अपनी मनोवृत्तियोंपर असाधारण अधिकार होता है, उनमें क्षमा तथा सहन करनेकी भी अलौकिक शक्ति होती है। उनके हृदयोंमें धैर्य्यका ही सम्पूर्ण साम्राज्य होता है। इसी कारण पतिव्रताके उक्त वचनोंमें तेजस्विता और सदुपदेशके साथ-साथ नम्रता और शीलताकी भी पूर्णता है।

योगदर्शनमें धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनोंका प्रयोग एक लक्ष्यपर करनेसे जो क्रिया वनती है, उस क्रियाको संयम कहा है। यथा—"त्रयमेकत्र संयमः"। इस संयम-क्रियाके साथ योग-सिद्धियोंका वहुत ही घनिष्ठ सम्वन्ध है। सभी सिद्धियाँ संयमसे ही सम्वन्ध रखती हैं। उनमें दूसरेके चित्तकी वात जाननेके विषयमें योगदर्शनमें यह सूत्र है—"प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।" अर्थात् प्रत्यय (ज्ञान) में संयम करनेसे पराये चित्तका

४

ज्ञान होता है। उन्नत श्रेणीके योगियोंको योग-साधनसे यह सिद्धि प्राप्त होती है; परन्तु सतियोंको पतिपूजारूपी योगसे ही यह शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है; जैसा कि, पतिव्रताने पूर्वोक्त ब्राह्मणसे कहा है। यथेच्छ स्थानमें जा सकनेकी सिद्धिको योग-शास्त्रमें "प्राप्तिसिद्धि" कहा है। यह अणिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियोंके ही अन्तर्गत है। यह ईश्वरीय सिद्धि भी पतिव्रता सतियोंको प्राप्त हो जाती है। यह बात सती सावित्रीके उदाहरणसे सिद्ध होती है। इसका वर्णन महाभारतके वनपर्वके दो सौ छानवे अध्यायमें इस प्रकार पाया जाता है—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥
ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम्।
निर्विचेष्टं शरीरं तद्बभूवाप्रियदर्शनम्॥
यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः।
सावित्री चैव दुःखार्त्ता यमेमेवान्वगच्छत॥
नियम-व्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता।
निवर्त्त गच्छ सावित्रि! कुरुष्वास्यौर्ध्वदैहिकम्॥
कृतं भर्तुस्त्वयानृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया।
यत्र मे नीयते भर्त्ता स्वयं वा यत्र गच्छति॥

मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः।
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुःस्नेहाद् व्रतेन च॥
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः।

अर्थात् यमने सत्यवानके शरीरसे अँगूठेके बराबर आकारवाले पुरुष (जीवात्मा) को पाशमें बाँधकर अपने वशमें करके बाहर निकाल लिया। उस पुरुषके निकलते ही वह शरीर प्राणहीन, चेष्टाहीन, प्रभाहीन और श्वासहीन हो गया। वह देखनेमें भयावना हो गया। यमराज इस प्रकार सत्यवान्की आत्माको पाशसे बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले। दुःखसे पीड़ित सावित्री भी उनके पीछे पीछे चली। नियम व्रत आदिसे सिद्धिप्राप्त भगवती पतिव्रताको पीछे आते देखकर भगवान् यमने कहा,—"सावित्रि! तुम लौट जाओ और स्वामीके शरीरका औद्र्ध्व-दैहिक कर्म करो। तुमने अपने स्वामीका ऋण चुका दिया। जहाँ तक तुम साथ दे सकती थी, वहाँ तक दे चुकी।" सावित्रीने कहा,—"जहाँ कोई मेरे पतिको ले जाय या मेरे स्वामी स्वयं जहाँ जायँ, वहाँ मुझे भी जाना चाहिये। यही सनातनधर्म है। भगवन्! तपस्या, सास-ससुर आदि गुरुजनोंकी भक्ति, पतिस्नेह, पातिव्रत्य और आपकी कृपासे मेरी गति अप्रतिहत है अर्थात् मैं सब जगह जा सकती

हूँ।" इसी वचनके अनुसार भगवती सावित्री बहुत दूर तक यमधर्मराजके साथ गयी भी थी। यमादि देवता हमारे जैसे रास्तोंसे नहीं जाते। वे तो आकाशमार्गसे वायु-गतिसे जाते हैं। देवी सावित्रीमें यथेच्छ-गमनकी सिद्धि होनेसे ही वह उनके साथ-साथ जासकी थीं। सतीकी पातिव्रत्यरूपी योगसिद्धिके सम्मुख संसारके शासक भगवान् यमको भी दब ही जाना पड़ा। इन सब विषयोंसे यही प्रमाणित होता है कि, पतिव्रताओंका पातिव्रत्य भी एक प्रकारका योग-साधन ही है और पतिव्रता देवियाँ स्वाभविक योगिनी हुआ करती हैं। उस योगके फलसे उनको योगकी विशेष-विशेष सिद्धियाँ, जैसे दूसरेके चित्तका ज्ञान, सूर्य्य-स्तम्भन, यथेच्छ-गमन आदि स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। अपने पावन चरित्रसे विश्वको पवित्र करनेवाली वे सतियाँ धन्य हैं।

उपासना और नारीधर्म।



इष्टके सान्निध्यकी प्राप्ति अर्थात् निकटवर्ती होनेको उपासना कहते हैं। अतः ऐसी सब क्रियायें एवं चेष्टायें, जिनके द्वारा चित्तकी चञ्चलता नष्ट होकर एकाग्रता उत्पन्न हो, संसारकी मनोमुग्धकारी विलास-वस्तुओंमें फैली हुई ऐसी चित्त-वृत्तियाँ, जो भगवत्-चरणारविन्दोंमें पहुँचनेमें बाधक हैं, सिमटकर अन्तर्मुख हो जायँ और जीव शिवका सान्निध्य प्राप्त कर एक हो जाय, उपासनाके अन्तर्गत आ जाती हैं। उपासनाका इतना व्यापक अर्थ होनेके कारण अधिकारभेद, अवस्थाभेद, प्रकृतिभेद और प्रवृत्तिभेदसे इसके भी अनेक भेद शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। सबकी रुचि एक सी नहीं देखी जाती, सबकी प्रवृत्ति और चाह भिन्न भिन्न होती है, सबकी शक्ति और योग्यता एकसी नहीं होती, मनुष्यमात्रके मनकी अवस्था और बुद्धिकी विचारशक्तिमें वैचित्र्य देखा जाता है, शारीरिक शक्ति और योग्यतामें भी विषमता देखी जाती है, इन्हीं कारणोंसे उपासनाके अधिकार और उसकी साधन-शैलीके भेद अनेक

हैं। इष्टके ध्यानके अवलम्बनभेदसे उसके प्रधान नौ भेद माने गये हैं एवं उसकी साधन-शैलीके अनुसार प्रधान चार भेद शास्त्रकारोंने किये हैं। यथाः—मन्त्रयोग, हठयोग, लयग्योग और राजयोग। मन्त्रयोगका ध्यान स्थूलमूर्ति-ध्यान, हठयोगका ज्योतिर्ध्यान, लययोगका विन्दुध्यान और राजयोगका ब्रह्मध्यान, इस प्रकारसे चार प्रकारके ध्यान होते हैं।

इन चारोंके भी अन्तरंग अधिकार अनेक हैं। स्थूल-मूर्तिसम्वन्धी सब उपासनायें मन्त्रयोगके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें रुचि-भेदसे उपास्य मूर्तियोंके अनेक भेद हैं। जिसकी जैसी रुचि हो, उसके लिये उसी रूपकी उपासनाका विधान है। यथाः—विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश। इस तरह श्रीभगवान्के पाँच सगुण भावोंके पाँच रूपोंकी उपासना, रामकृष्ण आदि अवतारोंकी उपासना, ऋषि, देवता और पितरोंकी उपासना एवं सबसे नीचे भूत-प्रेत आदिकी उपासनाका भी विधान है। पूर्वकथित इष्ट-अव-लम्बनके नौ भेद और साधन-प्रणालीके चार भेद, ये सब निर्गुणोपासना और सगुणोपासना दोनोंके ही अन्तर्गत हैं। यह सनातनधर्म्मके सर्वव्यापक होने और महत्वका ही कारण है कि, उसमें सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये सब

अङ्ग पाये जाते हैं। उदाहरणरूपसे समझने योग्य है कि, राजयोगका ब्रह्मध्यान, लययोगका बिन्दुध्यान, हठयोगका ज्योतिर्ध्यान, ये सब निर्गुण उपासनाके ही अङ्ग हैं और सगुण पञ्चोपासना, अवतारोपासना आदि सब सगुणोपासनाके अङ्ग हैं। इनमें सतियोंकी पतिपूजाका सम्बन्ध अवतारोपासनासे है। सतियोंके परमात्मा पतिरूपसे ही अवतीर्ण होते हैं। वे परमपुरुष परमात्माकी आराधना पतिके रूपमें तन, मन, धन, जीवनसर्वस्व समर्पण करके करती हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थात् जो जिस तरहसे या जिस रूपसे मुझे भजता है, मैं भी उसे वैसे ही भजता हूँ। सब प्रकारसे मनुष्य मेरे ही पथमें आते हैं।

उपासनामें जो कुछ चेष्टायें होती हैं, वे इष्टकी प्रसन्नताके लिये ही होती हैं। इष्टको निवेदन करनेके अनन्तर प्रसाद भोजन करना, उनको सुलाकर सोना, वस्त्राभूषण आदि उनके चरणोंमें अर्पण कर तब स्वयं ग्रहण करना आदि क्रियायें पहले विधिके विचारसे की जाती हैं, फिर धीरे-धीरे वह स्वभावके रूपमें परिणत हो जाती हैं। प्रथम

दशामें उपासक अपने इष्टके रूपके ध्यान और मन्त्रजपका अभ्यास करता है तथा,अन्तमें तद्गत् होकर इष्टमें ही अपनेको भूल जाता है। संसारकी सब सुधबुध एकबारगी भूलकर एकमात्र इष्टके चरणोंमें लवलीन हो जाता है। यही मन्त्र-योगकी समाधि है। यही मन्त्रयोगकी संक्षिप्त साधन-शैली है। यह साधन सबसे सरल और सुगम है, क्योंकि मनुष्य जिस स्वरूपमें आसक्त होता है, उसीके ध्यानाभ्यासद्वारा चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके वह सहजमें उन्नति करता हुआ उपासना-पथमें अग्रसर हो सकता है। नाम और रूपका ही विलास यह संसार है। इसी नामरूपमें मनुष्य-गण फँसे हुए हैं। अतः मन्त्रयोग-साधन-शैलीके अनुसार नाम और रूपको-उपासनामें ज्योंका त्यों रखा गया है, केवल भावना बदल दी गयी है। साधारण सांसारिक रूपके स्थानपर भगवान्के भावमय दिव्यरूपका ध्यान और साधारण सांसारिक नामके स्थानपर भगवान्के नाममय मन्त्रोंका जप करना ही मन्त्रयोगका प्रधान साधन है। इसके सहा-यक अनेक अङ्गोपाङ्ग हैं। आर्यमहिलाओंकी पतिपूजारूपी उपासना, जिसका विधान महर्षियोंने महिलाओंके लिये किया है, इसी मन्त्रयोगके अन्तर्गत होनेपर भी सबसे सरल है। यह बात थोड़ा विचार करनेसे सहज ही

समझमें आ सकती है। स्त्री और पुरुषोंमें परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है, स्त्रियाँ पुरुषोंकी ओर और पुरुष स्त्रियोंकी ओर खिंचते हैं। स्त्री और पुरुषोंका यह स्वभाव शरीर और मनके साथ जन्मसे ही आपसे आप उत्पन्न होता है। इस स्वाभाविक अनर्गल आकर्षणको विवाह-बन्धनद्वारा केन्द्री-भूत किया जाता है। इस पवित्र बन्धनके द्वारा वह विखरा हुआ आकर्षण एकाधारमें इकट्ठा होकर सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकारसे जहाँ स्वभावसे ही चित्तका खिंचाव है, स्वाभाविक लगन है, उसी प्रत्यक्ष देवताकी उपासनाका विधान हमारे पूज्यपाद महर्षियोंने महिलाओंके लिये किया है। जिस रूपको हमने कभी देखा न हो, उसपर ध्यान जमाना कितना कठिन होता है, यह बात वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने कभी इस पथपर चलनेका प्रयास किया हो। इसी तरह धातु, पत्थर, मिट्टीआदिद्वारा निर्मित उपासना-पीठोंको चैतन्ययुक्त बनाना और उनसे फल प्राप्त करना यह एकमात्र उपासकोंके श्रद्धाबल, भक्तिबल और उपासना-बलपर ही अवलम्बित है। इन सब मूर्ति-उपा-सनाओंका यदि तुलनात्मक विचार किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि, उपास्य देवताकी जो मूर्ति अपने सामने सब समय प्रत्यक्ष है, जिसकी ओर चित्तका स्वाभाविक

अनुराग है, हृदयकी लगन है जिसकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रत्यक्ष जानी जाती है, जो अपनी सब इच्छाओंको साथ-ही-साथ पूरा करती है, जैसा कि, कहा भी है—

मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य च दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥

"अर्थात् पिता, भाई और पुत्र सभी परिमित देनेवाले हैं, परन्तु पति अपरिमित देनेवाला है। ऐसे पतिकी पूजा कौन नहीं करेगी ?" ऐसी प्रत्यक्ष देवमूर्तिकी उपासना महिलाओंके लिये उन भावकल्पित शिव, शक्ति, विष्णु आदि रूपोंकी उपासनासे कितनी सहज और सुगम है, सो किसी विचारशीलको बतानेकी आवश्यकता नहीं हैं। जिस प्रकार स्थूलमूर्तिकी पूजा-अर्चना और ध्यानके द्वारा उपासकोंकी संसारके सब विषयोंसे निवृत्ति हो जाती है, शरीरकी सुध तथा स्वार्थपरता नष्ट हो जाती है और उपासक उपास्यदेवमें अपनेको तल्लीन करदेता है, उसी प्रकार पतिपूजारूपी उपासनामें स्वभावसे ही तल्लीनता होती देखी जाती है। सतीशिरोमणि भगवती सीता रावणके द्वारा हरी जाकर लङ्कामें अशोक वृक्षकी छायामें बैठी-बैठी निरन्तर श्रीभगवान् रामचन्द्रजीकी चिन्ता किया करती

थीं। उस समय उन्होंने बड़े दुःखसे त्रिजटा नामकी राक्षसीसे कहा था—

कीटोऽयम् भ्रमरी भवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा।
स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे! दाम्पत्यसौख्यं गतम्॥

हे त्रिजटे! जिसप्रकार तेलचट्टा कीट भ्रमरकीटकी निरन्तर चिन्ता करता हुआ भ्रमरकीट ही बनजाता है, उसी प्रकार मैं रामकी निरन्तर चिन्ता करती हुई यदि राम ही बन जाऊँगी, तो दाम्पत्यसुख ही जाता रहेगा, यही मुझे दुःख है।

सतियोंका वस्त्र, आभूषण और अंलकार-धारण आदि शृंगार एकमात्र पतिकी प्रसन्नता और सेवाके लिये ही होता है। इससे उनके भोग-विलास और प्रवृत्तिके भाव क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। तपस्विनी पतिप्राणा सती अपने शरीर, मन, प्राण, बुद्धि और आत्माको संसारकी सब मोहक भोग-वस्तुओंसे हटाकर पति-चरणोंमें लवलीन करके पूर्णता तथा सिद्धि प्राप्त करती है। अस्तु, स्त्रियोंके लिये इतना ही यथेष्ट है। उनके लिये इस उपासनाके अतिरिक्त किसी जप, याग, तप, दान, होम, तीर्थाटनादि किसी भी धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है। समस्त दान, समस्त यज्ञ, समस्त तीर्थोंका पर्यटन, सब व्रत, तप, उपवास,

धर्म, सत्य, देवपूजा इत्यादि सब पति-पूजासे प्राप्त पुण्यके षोड़शांश भी नहीं है, ऐसा कहकर पूज्यचरण महर्षियोंने स्त्रियों-के सब धर्मोंकी परिसमाप्ति एकमात्र पतिसेवामें कर दी है।

सनातनधर्मावलम्बिनी स्त्रियोंमें त्रिलोकपवित्रकारी ऐसी मधुर आचारप्रणाली प्रचलित रहनेपर भी आजकल नाना प्रकारकी भ्रममूलक और हानि पहुँचानेवाली बातें उनको सिखाई जाती हैं और ऐसी शंकाएँ तथा आक्षेप हमारे आराध्यचरण महर्षियोंके आदेशोंपर किये जाते हैं कि, पुरुषोंने स्त्रियोंके ऊपर अत्याचार किये हैं, चूंकि पुरुषोंने शास्त्र बनाये हैं; स्त्रियोंको अपने अनुगत और अधीन बनाए रखनेके लिये ही ऐसी ऐसी आज्ञाएँ शास्त्रोंमें भरदी गयी हैं। इसी तरहकी अनुचित और कृतघ्नताकी बातें आजकल कही जाती हैं। परन्तु यदि शान्त होकर थोड़ा विचार किया जाय, तो यह बात बुद्धिमान् व्यक्ति सहजमें समझ सकते हैं कि, हमारे पूज्यचरण महर्षियोंने स्त्रियोंपर बड़ी ही कृपा की है, जिससे उनकी उन्नतिका मार्ग सरल हो गया है और वे संसारके सब श्रेष्ठ सुखोंको भोगती हुई अन्तमें पचंम लोकरूपी सतीलोकमें पहुँचकर वहाँ भी उन्नत उपासकोंके समान दिव्य सुखोंको भोगती हैं।

यद्यपि साधारणधर्म्मके अनेक अङ्गोपाङ्ग हैं और उनका ठीक-ठीक अनुष्ठान होनेपर उनमेंसे प्रत्येकमें अभ्युदय तथा मुक्ति देनेकी पूरी शक्ति विद्यमान है, एवं उन सबका द्वार सबके लिये खुला हुआ है; परन्तु स्त्रियोंके लिये पति-उपासना-रूपी पातिव्रतधर्म जितना सहज, स्वाभाविक, निष्कंटक, निरापद और निर्भय है, उतना दूसरा नहीं। पातिव्रत्य स्त्रियोंके लिये सब ओरसे सुरक्षित, सुखसे पालन करने और अनुसरण करने योग्य राजमार्ग है। दूसरे मार्ग वनों और पहाड़ोंके बीचकी कंटकोंसे घिरी हुई पगडण्डीके मार्गोंके समान हैं; जिनमें पद-पदपर भय, विघ्न और रुकावटकी आशंका है। जिसका जो धर्म्म स्वभावसे उत्पन्न हुआ है, उसका ठीक-ठीक अनुष्ठान करना उसी सर्वात्मा-रूप श्रीभगवान्‌की पूजा करना है। अतः सतियोंकी पतिपूजा-रूपी उपासना रूपान्तरसे सर्वभूतात्मा भगवान्‌की ही पूजा है। यह मन्त्रयोगके अन्तर्गत स्थूलोपासनारूपी मूर्ति-उपासनाका ही एक अंग है। पूज्यपाद महर्षियोंने बहुत ही सूक्ष्म विचार करके स्त्रियोंके जन्मगत स्वभाव, प्रकृति और प्रवृत्तिको योगदृष्टिसे जानकर इस उपासनाकी विधि बताई है।

पातिव्रत्य और निष्काम कर्मयोग ।

——:❀:——

यह जगत् कर्मके बन्धनसे जकड़ा हुआ है। इस संसारमें जो कुछ देखा जाता है, वह सब कर्मका ही अवश्यम्भावी फल है। समष्टि-व्यष्टि, ब्रह्माण्ड-पिण्ड, सब संसार ही कर्मके अधीन है। पशु, पक्षी, मानव या देवता कोई भी कर्मके अलंघनीय प्रभावसे नहीं बँच सकता। सभीको समानरूपसे कर्म ही चलाता है। संसारमें कोई अत्यन्त रूपवान्, कोई कुरूप, कोई बहुपुत्रवान्, कोई पुत्रहीन, कोई अनन्तऐश्वर्यशाली, कोई रास्तेका भिखारी, कोई विपुल धनका स्वामी, कोई अत्यन्त दरिद्री, कहीं नित्य नये महोत्सव, कहीं नित्य करुणाक्रन्दन इत्यादि जो विविध विषमता देखनेमें आती है, वह सब विविध विचित्र शुभ और अशुभ कर्मोंका ही अपरिहार्य फल है। कहीं प्रचुर सम्पत्ति है, तो भोक्ता नहीं; कहीं भोगनेवाले हैं, तो धनकाही अभाव है; किसीको पाचनकी शक्ति है, तो भोजन दुर्लभ है; किसीको नाना प्रकारके भोज्य-व्यञ्जन प्राप्त हैं, तो पचानेकी शक्ति नहीं; कहीं आनन्दका अटूट उल्लास है, तो कहीं

निरन्तर दुःखका आर्त्तनाद ! ये जो मधुर और भयङ्कर, मोहक और मर्मभेदी दृश्य देखनेमें आते हैं, सभी जगन्नियामक श्रीभगवान्के नियमरूप कर्मकी ही अपूर्व लीला है। इसी कारण स्वयं भगवान्ने श्रीगीतोपनिषद्में—

"गहना कर्मणो गतिः"

अर्थात् कर्मकी गति अति गहन है; कहकर कर्मगतिका दुर्ज्ञेयत्व सिद्ध किया है। इस दुर्ज्ञेय कर्मचक्रमें मनुष्य निरन्तर घूमा करता है। जिस तरह मकड़ी अपने ही हाथों जाल तानती और उसीमें फँस जाती है, उसी तरह मनुष्य सुखकी आशासे स्वयं नाना विध कर्मजालकी रचना करता और उसीमें फँसता जाता है। इस जालसे मनुष्यका छूटना असम्भव है। क्योंकि विना कर्म किये मनुष्य क्षणभर भी नहीं रह सकता। शारीरिक, वाचनिक, मानसिक था बौद्धिक किसी-न-किसी प्रकारके कर्म मनुष्य हर समय करता ही रहता है। शुभ कर्म शुभ फल देता है और अशुभ कर्म अशुभ फल उत्पन्न करता है। परन्तु शुभ कर्मसे भी कर्म-बन्धनसे बचाँव नहीं होता। जिस प्रकार लोहेकी जंजीरसे भी मनुष्य बाँधा जाता है और सोनेकी जंजीरसे भी बाँधा जाता है; बन्धनके विषयमें स्वर्णशृङ्खला और लौहशृङ्खला दोनों ही समान हैं; उसी

प्रकार शुभ और अशुभ कर्मोंको समझना उचित है। तात्पर्य यह है कि, पुण्य और पाप दोनोंके ही द्वारा मनुष्य समान-रूपसे कर्मजालमें जकड़ा जाता है। कर्मके इसी अनिवार्य नियमसे मनुष्य बार-बार जीवन, मरण, स्वर्ग, नरक, प्रेतलोक आदिकी नाना अवस्थाओंमें भटका करता है। इसी तरह अनन्त जन्म बीत जाते हैं। जब मनुष्य इन यन्त्रणाओंसे ऊब उठता है, तब इस जालसे बँचनेकी उसे इच्छा होती है। उस समय यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि, इस कर्म-जालसे कैसे बचें? इसी महान् प्रश्नके उत्तरमें गीता-शास्त्रकी सृष्टि हुई है। उसमें श्रीभगवान्ने स्पष्ट आज्ञा दी है कि, एक मात्र असङ्ग शस्त्रके द्वारा ही उस कर्म-जालका छेदन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि, उस कर्मबन्धनसे बँचनेका एक मात्र उपाय निष्काम हो जाना ही है। अपने स्वभाव-नियत कर्मको करते हुए उसमें फलकी इच्छा न रक्खें। कर्म-फल-त्यागके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है, जिससे मनुष्य इन शुभाशुभकर्मोंसे छुटकारा पासके। कर्म-फल-त्यागके द्वाराही मनुष्य इस अनादि अनन्त कर्म-बन्धनसे अपनेको बँचा सकता है। क्योंकि कर्म-फल-त्यागके द्वारा कर्मका सम्बन्ध अपने साथ स्वतः छूट जाता है। मनुष्यके अन्तः-करणमें जिस मुहूर्त्तमें निष्कामकर्मयोगका संस्काररूपी बीज

उत्पन्न होता है, उसी क्षणसे कर्मबन्धनकी जड़ शिथिल होने लगती है, और जिसदिन मनुष्य पूर्ण निष्काम अर्थात् कामना-रहित होजाता है, उसदिन कर्मकी जड़ ही कट जाती है। इसी कारण निष्कामकर्मयोगकी इतनी महिमा है। श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है:—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

अर्थात् इस कर्मयोगमें प्रारम्भका विनाश नहीं है—इसके प्रारम्भमें विफलता नहीं होती; और बीचमें विघ्नकी भी सम्भावना नहीं है। इस धर्मका थोड़ा अनुष्ठान भी महान् संसार-भयसे रक्षा करता है। कर्मयोगके साधनकी कई अवस्थायें होती हैं; क्योंकि मनुष्योंके अधिकारभेदके अनुसार साधनमें अधिकारभेद होना स्वाभाविक है। निष्काम कर्मयोगका अभ्यास करनेवाला व्यक्ति प्रथम अवस्थामें केवल संकल्प-मंत्रके उच्चारणसे निष्काम कर्म-योगका बीज बोता है। इसी कारण सनातनधर्मके सदाचारमें प्रत्येक दान या यज्ञादिक कर्मके अन्तमें यह मन्त्र उच्चारण किया जाता है कि—

"इदं कर्मफलं ब्रह्मार्पणमस्तु।"

दूसरी अवस्थामें वह भगवान्को स्मरण करके कर्म करता

है, अथवा जगत्‌को जगदात्मा भगवान्‌का ही स्वरूप मानकर उसीकी सेवारूपसे नियत कर्म करता है, या अपने इष्टदेव श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उसीकी पूजारूपसे कर्तव्य कर्म करता है। इससे उन्नत तीसरी अवस्थामें ज्ञानी साधक कर्मरूपी यज्ञमें भगवान् यज्ञेश्वरका स्वरूप देखता हुआ कर्म करता है। चौथी अवस्थामें तत्त्वज्ञानी महापुरुष कर्मके आध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत त्रिविध रूपोंको देखता हुआ कर्म करता है। पाँचवीं सर्वश्रेष्ठ अवस्था सिद्ध जीवन्मुक्तकी है, जिसमें आत्मरूपमें प्रतिष्ठित होकर कर्म किया जाता है। इसी अवस्थाके लिये श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा है—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" इत्यादि।

प्रत्येक मनुष्य स्त्री या पुरुष अपने अपने अधिकारके अनुसार फलासक्तिशून्य होकर विहित कर्मका अनुष्ठान करनेसे निष्कामकर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यथा श्रीमद्‌भागवतमें—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

अर्थात् वेदोक्त कर्म्मोंको ही आसक्ति-रहित होकर ईश्वरार्पणपूर्वक करता हुआ मनुष्य नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त कर लेता है।

विचारसे मालूम होता है कि, "सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः" अर्थात् सब प्राणियोंके पद-चिन्ह हाथीके पद-चिन्हमें समा जाते हैं। इस लोकोक्तिके अनुसार निष्काम कर्मयोग भी सतीत्वरूपी महान् व्रतसे बाहर नहीं है। आदर्श सतियोंकी प्रत्येक चेष्टामें निष्काम कर्मयोगका साधन स्वतःही हुआ करता है। जिस प्रकार मुमुक्षुकी सब कामनायें मुक्तिकी इच्छारूपी महान् कामनामें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार सतियोंकी सब कामनाएँ पति-प्रसन्नतारूप कामनामें समा जाती हैं। इस कारण सती स्त्रियां निष्कामव्रतपरायणा होती हैं, यह मानना ही पड़ेगा। जिस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक जगदात्मा भगवानकी सेवारूपसे अपने सब नियत कर्मोंको करता है, उसी प्रकार सती देवियाँ अपने इष्टदेव पतिकी सेवारूपसे अपने सब कर्तव्य कर्मोंको करती हैं। पतिदेवता उनके ईश्वर हैं और पतिका गृहरूप संसार उनका कार्यक्षेत्र है, जिसमें उसी ईश्वरकी सेवारूपसे कर्तव्यबुद्धिसे पतिपरायणा देवियाँ गृहके सब कार्योंको सुचारु रूपसे करती हैं, और तपस्विनी होकर अपने सब सुख-स्वार्थोंका त्याग कर देती हैं। सास-ससुरकी सेवा, सन्तानका लालन-पालन, गृहका सुप्रबन्ध, भोजनकी सुव्यवस्था आदि सभी कार्योंको वे बड़ी योग्यता और प्रेमसे करती हैं। उनकी

करुणापूर्ण उदार दृष्टिमें साधारणसे साधारण व्यक्ति भी उपेक्षाका पात्र नहीं होता। वृद्धोंकी सेवा, रोगियोंकी शुश्रूषा, आश्रितोंका आदर, अतिथियोंका सत्कार सभी ओर उनकी दृष्टि समानरूपसे पड़ती है और पतिप्राणा गृहिणियाँ यथायोग्य सबके लिये उचित प्रबन्ध करती हैं। घरके सब लोगोंके सोजानेपर वे सोती हैं और सबके जाग उठनेके पहले जाग उठती हैं। पतिको तथा पतिके स्वजनोंको खिलाकर तथा अतिथि, अभ्यागत और आश्रितोंको खिलानेके बाद मानों यज्ञशेषरूपसे वे अन्न ग्रहण करती हैं। अपने सब सुख-स्वार्थोंका दमन करके संयतेन्द्रिय होकर निरालस्य भावसे वे कुटुम्ब, स्वजन और सामान्य सेवक-सेविकाओंको भी सुखी और प्रसन्न रखती हैं। पतिसे जो कुछ द्रव्य उन्हें गृहकी व्यवस्थाके लिये प्राप्त होता है, उसीमें संतोष रखकर गृहकी सब व्यवस्था करती हैं। याचकका सम्मान करती हैं और समय-असमयके लिये उससे कुछ बँचा भी लेती हैं। ऐसे सती-मन्दिरसे कोई भी विमुख नहीं लौटता। वहाँ द्रव्यके लिये गृह-कलहकी सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वहाँ सदा ही सन्तोषरूपिणी शान्त शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित होती रहती है। पिता-माता, सास-ससुर, स्वजन, कुटुम्बी, पड़ोसी, और समाज सबके साथ यथायोग्य कर्तव्यपालनमें सती

देवियाँ सदा तत्पर दिखाई देती हैं। इन आवश्यक कर्तव्योंका पालन वे स्वाभाविकरूपसे करती हैं। इनमें उनकी कोई स्वार्थभावना नहीं रहती, न कोई कामना ही रहती है। कर्तव्य-कार्योंमें वे इतनी तल्लीन रहती हैं कि, अपने सुखस्वार्थकी ओर उनका लक्ष्य जाता ही नहीं। इस प्रकार जितना ही विचार किया जाय, यह प्रत्यक्ष होगा कि सतियोंका सदाचार भी एक प्रकारका नैसर्गिक निष्काम कर्मयोग है। सती-जीवनमें निष्काम कर्मयोगका पालन स्वतः हुआ करता है। उनकी दिनचर्या सर्वथा तपस्या और स्वार्थ-त्यागयुक्त होनेसे उससे स्वभावतः निष्काम कर्मयोगकी सिद्धि मिलती है।

निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानका फल आत्मशुद्धि है। इससे शरीरका मल, मनका विक्षेप और बुद्धिका आवरण क्रमशः घटता जाता है। इसीको आत्मशुद्धि कहते हैं। श्रीभग-वान्ने गीतामें कहा है—

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

अर्थात् योगिगण आत्मशुद्धिके लिये आसक्ति छोड़कर शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंके द्वारा भी कर्म करते हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि, निष्काम कर्मयोगके द्वारा आत्मशुद्धि होती है। सती देवियोंके स्वाभाविक निष्काम कर्म-

योगके प्रभावसे उनकी पूरी आत्मशुद्धि होकर ज्ञानकी भी पूर्णता हो जाती है। सती मदालसाके चरित्रमें जैसी प्रेमकी पूर्णता देखी जाती है, वैसी उसमें ज्ञानकी भी पूर्णता है। उसके चरित्र-की एक दो घटनाओंके मनन करनेसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है।

मदालसाके पति ऋतुध्वजने युद्धमें पातालकेतुको मार डाला था। उसीका भाई तालकेतु अपने भाईके वधका बदला ऋतुध्वजसे चुकानेपर तुला हुआ था। एक बार जब ऋतुध्वज पृथिवी-प्रदक्षिणा करने गये थे, तो यमुनातटपर बैठा हुआ उन्होंने एक मुनि देखा। यह सच्चा मुनि नहीं, किन्तु कपटमुनि तालकेतु ही था। दोनोंमें बातें होनेपर उससे मुनिने कहा,—"राजकुमार! मैंने एक यज्ञ किया है, दक्षिणाके लिये मेरे पास धन नहीं है। यदि तुम अपने गलेका यह हार दे दो, तो मैं ब्राह्मणोंकी दक्षिणा चुका दूं।" ब्राह्मणभक्त कुमार ऋतुध्वजने तुरन्त अपने गलेका हार उतार दिया। मुनिने आश्रमकी रक्षाके लिये कुछ समय उसको वहीं बैठनेको कहा और स्वयं अदृश्य हो गया। मुनिकी आज्ञा मानकर ऋतुध्वज वहीं बैठा रहा। उधर मुनि वह हार लेकर सीधा उसके घर ऋतुध्वजके पिता शत्रुजित्के पास गया और बोला—"राजन्! दुःखकी बात है कि, आपका पुत्र दानवोंके हाथों मार डाला गया है। उसने यह हार देकर मुझे मृत्यु-

समाचार देनेके लिये आपके पास भेजा है। नाशवान् संसारका विचार कर आप धैर्य्य रक्खें और मदालसाको समझावें और यह अपना हार लेलें।" इतना कहकर कपटमुनि चला गया। इस समाचारको सुनते ही मदालसा मूर्च्छित हो गयी और थोड़े ही समयमें उसके प्राण शरीरसे कूच कर गये। कपटमुनि आश्रममें पहुँचा, तब ऋतुध्वज घर लौटा। इस घटनासे मदालसाके पति-प्रेमकी पूर्णता प्रत्यक्ष ही होती है। अब उसके ज्ञानकी पूर्णता उसके जीवनकी दूसरी घटनासे देखी जा सकती है।

मदालसाके चार पुत्र थे। पहले तीन पुत्र जब पढ़-लिख चुके, तो मदालसाने उन्हें ऐसा अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया कि, वे विना विवाह किये ही गृहस्थी त्यागकर तपस्या करने चले गये। सबसे छोटे पुत्र अलर्कको मदालसाने जिन शब्दोंमें उपदेश दिया था, वे शब्द ये हैं—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयः त्यक्तुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्य्यः सैव तस्यापि भेषजम्॥

"सबका सङ्ग छोड़ दो। यदि न छोड़ सको, तो सत्सङ्ग करो। सब इच्छाओंको त्याग दो। यदि नहीं त्याग सको, तो मुक्तिकी इच्छा करो।" अलर्क माताके

उपदेशरूपी नौकाकी सहायतासे संसारमहासागरसे पार उतर गया था। इससे देवी मदालसाकी ज्ञान-सम्बन्धी योग्यताका अनुमान किया जा सकता है।

पूर्ण आत्मशुद्धिका फल हृदय-गुहामें ज्ञानका प्रकाश होना है। निष्काम कर्मयोगसे शरीरकी जड़ता, अन्तःकरणकी अनुदारता, मनकी चंचलता और बुद्धिका आवरण, जो ज्ञानको ढँक रखता है, धीरे-धीरे घटता रहता है। शरीरकी जड़ता जितनी-जितनी घटती जाती है, उतनी ही उतनी शरीरमें स्फूर्त्तिका स्फुरण होता है और हर समय सब कामके लिये शरीर तत्पर रहता है। अन्तःकरणकी अनुदारता नष्ट होनेसे जीवात्मा विश्वात्माके राज्यमें पहुंचता है। मनके स्थिर होनेसे उसमें लौ लगा सकता है और बुद्धिका आवरण नष्ट होनेसे बुद्धि आरसीकी तरह निर्मल हो जाती है, उसमें प्रियतम परमपुरुषका दर्शन होता है। आत्म-शुद्धिका सबसे सुगम और स्वाभाविक साधन निष्काम-कर्मयोग है। जो मनुष्य चाहे, सब अवस्थाओंमें इसका साधन अनायास कर सकता है। इसमें केवल भगवान्‌में अर्पणबुद्धिकी आवश्यकता है। श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है कि—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अपने अपने विहित कर्ममें रत रहकर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। कैसे करता है, सुनो। प्राणियोंकी प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है और जिसने समस्त संसारको व्याप्त कर रक्खा है, कर्त्तव्यरूपी पुष्पके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य सिद्धिलाभ करता है।

अन्य लोगोंको निष्काम कर्मयोगका अभ्यास करना सीखना पड़ता है, परन्तु आदर्श सतीका पातिव्रत्ययोग स्वाभाविक और सहज निष्काम कर्मयोग है। सती देवियोंकी दिनचर्याका मनन करनेसे सभी विचारशील व्यक्ति इस विषयको समझ सकते हैं। सती स्त्रियोंकी सभी चेष्टायें परार्थ होती हैं। उसमें अपना सुख-स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता। इसी कारण वे बहुत शीघ्र ही इस दुःखमय संसार सागरसे मुक्त होजाती हैं। अपने सच्चे निष्काम कर्मयोगके फलसे दूसरे जन्ममें वे उन्नत ज्ञानी पुरुषशरीर प्राप्त कर लेती हैं और ज्ञाननेत्रसे परमपतिको देखकर उसीमें लीन होजाती हैं। अथवा उन्नत ज्ञानलोकोंमें ही पहुँचती हुई परमपुरुषमें तन्मय होकर अनायास मुक्तिपदको प्राप्त कर लेती हैं।

———

पातिव्रत्य और भक्तियोग

प्रम और पातिव्रत्य शीर्षक अध्यायमें स्नेह, प्रेम और श्रद्धाके विषयमें विस्तारित विवेचन किया गया है। उससे सिद्ध है कि, प्राणियोंके हृदयमें एक आर्द्र रस है, जिसका विशेष विकाश मनुष्य-योनिमें देखा जाता है। इसी कारण मनुष्योंमें जैसे प्रेम करनेकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है वैसे ही प्रेम करानेकी इच्छा नैसर्गिक है। मैं किसीका बन जाऊं, मुझे कोई अपना बना ले, मैं किसी पर तन, मन, धन, जीवन सर्वस्व न्यौछावर कर दूं, मुझ पर कोई तन, मन, प्राण, जीवन और सर्वस्व अर्पण कर दे, ऐसी अनन्त अतृप्त मधुर लालसा क्या पुरुष क्या स्त्री सबमें स्वाभाविकरूपसे रहती है। जिस प्रकार मनुष्य प्रेम पानका पिपासु है, उसी प्रकार प्रेम देनेके लिये भी लालायितर हता है। प्रेम-दानके लिये वह अनुकूल आधारके अन्वेषणमें रहता है, इसी कारण मनुष्यको मित्र, सहायक या साथीकी आवश्यकता या अभाव प्रतीत होता है। जगत् कारण जगदीश प्रेमरूप है, प्रेममय हैं और इसी कारणके आनन्दरूप भी है। क्योंकि

विना प्रेमके अर्थात् रसके आनन्द उत्पन्न नहीं हो सकता। आनन्द रसका ही उल्लास मात्र है। अतएव मनुष्यका अधिकार जितना जितना उन्नत होता जाता है, उतना ही वह प्रेमरसास्वादनमें समर्थ होता है। इसी कारण यथार्थ मनुष्यत्व-प्राप्ति के साथ ही साथ उसमें प्रेमपान और प्रेमदानकी उत्कण्ठा प्रवल होती है। प्रभु पूर्ण प्रेममय है, अतः मनुष्य अपने अपूर्ण प्रेमको किसीको देकर या किसीसे लेकर मानों पूर्ण करना चाहता है।

संसारी मनुष्योंका यह रस-स्रोत प्रथम लौकिक आधारोंकी ओर ही प्रवाहित होता है, और अलग-अलग आधारोंके अवलम्बनसे अलग-अलग नाम प्राप्त करता है। पिता-माता आदि पूज्य गुरुजनोंमें जो प्रेम होता है, उसी ऊर्द्ध्वगामी प्रवाहको श्रद्धा कहते हैं, जो स्त्री या मित्र आदि समान भूमिमें रस प्रवाहित होता है उसको प्रेम कहते हैं और पुत्र कन्या आदिमें अर्थात् वही प्रेम धारा जब नीचेकी ओर प्रवाहित होती है, उसको स्नेह कहते हैं। संसारकी सभी वस्तुएं परिवर्तनशील, क्षणस्थायी और नाशवान् हैं। अनित्य वस्तुओंकी नित्यता कैसे सम्भव है ? इस कारण मनुष्यकी वह मधुर लालसा उन अनित्य प्रियजनोंसे नहीं मिटती। जब उसके चित्त पर आघात पर आघात लगते हैं, विपत्ति और असमयमें

किसीको भी अपना नहीं पाता, या प्रेममें और कोई प्रतिकूलता होनेसे हृदयकी यह मधुर रसलता छिन्न-भिन्न होकर मुर्झाने लगती है, विरह और वियोगकी अग्निसे हृदय जर्जरित हो जाता है, या जब कठिन रोगसे शय्याशायी मनुष्य घोर यन्त्रणासे विकल हो जाता है, क्या पिता-माताका स्नेह, क्या कन्या पुत्रकी श्रद्धा, क्या स्त्रीका प्रेम, क्या सेवकोंकी सेवा, कोई भी उसके मर्मविदारक वेदनाको शान्त नहीं कर सकता, जब त्रितापसे तापित होकर मनुष्य मूर्च्छित होने लगता है, संयोग-वियोगकी अनलशिखासे बार-बार विदग्ध होने लगता है, तब मनुष्यको किसी ऐसे पियपात्रकी चाह होती है, जिसके प्रेममें विरहकी विकलता न हो, वियोगकी मर्मविदारक व्यथा न हो, जो नित्यस्थिर हो। इस अवस्थामें विचारसे जब स्थिर हो जाता है कि, ऐसा प्रियपात्र श्रीभगवानके सिवा और कोई नहीं हो सकता है; तब उसकी पूर्व स्मृति जाग उठती है और वह अपने हृदयके उसी प्रेम, स्रोतको प्रियतम प्रभुके चरणोंकी ओर प्रवाहित कर देता है। जिस प्रकार नदियां समुद्रमें मिलते ही शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य-हृदयकी यह प्रेमपयस्विनी प्रेम सागर प्रियतम प्रभुमें मिलकर सदाके लिये तृप्त और शान्त हो जाती है। शास्त्रोंमें इसीको भक्ति कहा है। यथा देवर्षि नारदने कहा है:—

"सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा"

वह भक्ति ईश्वरमें परम प्रेमरूपा है। महर्षि शाण्डिल्यने भी कहा है:—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे"

ईश्वरके प्रति परानुरक्ति अर्थात् पूर्ण प्रेमका नाम ही भक्ति है। महर्षि अङ्गिराने कहा है:—

"सानुरागरूपा" "स्नेह-प्रेम-श्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा"

अर्थात् भक्ति स्नेह, प्रेम, और श्रद्धाके अतिरिक्त ईश्वरमें अलोकिक अनुरागरूपिणी है।

इन महात्माओंके वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि, संसारके सब प्रियजनों और प्रिय विषयोंसे चित्त हटकर जब वह प्रियतम प्रभुके चरणोंमें एकान्त रति हो जाय, इसी अवस्थाका नाम भक्ति है। भक्ताग्रगण्य प्रह्लादने श्रीभगवान्के चरणोंमें यही प्रार्थना की थी—

या प्रीतिरविवेकाणां विषयेष्वनपायिनी।
त्वानुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

संसारी मनुष्योंको विषयोंके प्रति जैसी एकाग्र प्रीति होती है, उसी प्रकार अविच्छिन्न प्रेम मेरा आपके प्रति हो।

भक्तिके दो भेद हैं, गौणी और परा। गौणी भक्तिके भी दो भेद शास्त्रकारोंने किये हैं, वैधी और रागात्मिका। यथा:—

"वैधी-रागात्मिका-नाम-भिन्ना साधन लभ्या गौणी"

जब मनुष्यको संसारी सब विषयोंसे विराग हो जाता है और प्रभुके चरणोंकी शरण लेनेकी प्रबल इच्छा होती है, तब वह किसी पथ-प्रदर्शक सद्गुरुका आश्रय लेता है। वे जो विधि उसको बताते हैं, उससे अथवा शास्त्रकी विधिसे जो भगवान्‌की पूजा-अर्चनाकी जाती है, उसी प्रथम विधि-साध्य अवस्थाका नाम वैधी भक्ति है। यथाः—

"विधि साध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

तात्पर्य्य यह है कि, गुरूपदेशके अनुसार विधि-निषेधके अधीन होकर जिसका साधन किया जाय, उसीका नाम वैधी भक्ति है। यह सोपानरूपा है। वैधी भक्तिकी यह प्रारम्भिक प्रथम अवस्था है। इसके भी नौ अङ्ग हैं। यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रीभगवान्‌की मधुर गुण-कथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। उनकी गुणावलिके कीर्त्तनका नाम ही कीर्त्तन है। प्रभुके चरणकमलोंके निरन्तर स्मरणका नाम स्मरण है, उनकी पाद सेवा ही पाद-सेवन है। उनकी मूर्त्ति बनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी मूर्त्ति बनाकर बाह्य पूजा और मानसिका पूजा करना अर्चन है। प्रभुके पाद-पद्मोंकी वन्दना

वन्दन कहाती है। इसी प्रकार दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन आदि अङ्गोंका गुरूपदेश द्वारा अभ्यास किया जाता है। प्रथम दशामें इन सभी अङ्गोंका साधन उपदेश-विधिसे किया जाता है। इस प्रकार साधना-करते करते जब हृदयमें प्रेमकी मन्दाकिनी भगवतसमुद्रकी ओर स्वाभाविक रूपसे प्रवाहित होने लगती है, उसीको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इस दशामें भक्त-हृदयकी मधुर प्रेमधारा तैल-धाराके समान निरवच्छिन्न और अविश्रान्तभावसे प्रिय-तम श्रीभगवान्के चरणोंकी ओर प्रवाहित हुआ करती है। यथा महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—

"रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका"

भक्तिकी जिस अवस्थामें श्रीभगवान्के प्रति अपूर्व प्रेम-रसका अनुभव होता है, भक्तके हृदयमें आनन्द और शान्ति का संचार होता है, उसी अवस्थाका नाम रागात्मिका भक्ति है। इस अवस्थामें प्रेमरसके पानसे मतवाला भक्त अपने प्रियतम भगवान्के सिवाय किसी अन्य विषयको जानता ही नहीं। उसका मन-मधुप प्रभुके पादपद्मके मकरन्दपानमें ही सदा मत्त रहता है। उसकी आंखोंके सामने सर्वत्र सदा प्रिय-तमकी मधुर छवि ही छायी रहती है। उसकी बुद्धि सदा प्रियतम इष्टके ही मधुर चिन्तनमें निमग्न रहती है। इसी

अवस्थामें व्रजगोपियोंने श्रीभगवान्से कहा था—

चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु,
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथा करवाम किंवा ॥

"हे प्रियतम ! मेरा चित्त सुखसे घरके कामोंमें आसक्त था, उसे तुमने चुरा लिया । इसी कारण हमारे हाथ जो घरके कामोंमें लगेथे, चेष्टाहीन होगये और हमारे पैर भी तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर एक पग भी हटना नहीं चाहते । अब हम घर कैसे जायँ और जाकर भी क्या करें ?"

रागात्मिका भक्तिकी इस अवस्थामें भक्तके चित्तसे जगत्‌का चित्र ही हट जाता है । जगत्‌के किसी विषयमें उसके चित्तका आकर्षण शेष नहीं बचा रहता है, हृदयके वैषयिक रागोंके सब स्थान प्रियतम इष्टके अनुरागसे ओतप्रोत पूर्ण होजाते हैं, इस कारण वह भक्त जगत्‌के किसी कार्य्यके योग्य नहीं रहता । उसकी बाहरी चेष्टा उन्मत्त मनुष्योंकी तरह ही होजाती है । श्रीमद्भागवत्‌में कहा है—

वाग्गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं,
रुदत्य भीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च,
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
एवं व्रतः स्वप्रिय नाम कीर्त्या,
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै--
हँसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्,
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं,
भवन्ति तुष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

श्री भगवान्के प्रेममें उन्मत्त भक्त गद्-गद् वाणी और आर्द्रचित्त होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी लज्जा छोड़कर नाचते और गाते हैं। इस प्रकारसे भगवान्के भक्त जगत्को पवित्र करते हैं। वे भगवान् अच्युतकी चिन्तासे कभी रोया करते हैं, कभी हँसते हैं, कभी उनके विषयमें चर्चा करते हैं, कभी गाते हैं और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं; इत्यादि। तात्पर्य्य यह है कि, प्रथम दशामें विचारद्वारा प्रभुके मंगलमय चरणोंमें प्रीति उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है, उस समय वास्तवमें प्रेम नहीं रहता है, परन्तु गुरु और शास्त्र-आज्ञाके अनु-

सार वैधी भक्तिका अभ्यास करते-करते भक्तका हृदय सब संसारिक विषयोंसे उपराम होकर एकमात्र प्रियतम इष्ट-देव भगवान्में ही लवलीन हो जाता है। इसी रागात्मिका भक्तिकी परिपक्व दशाका परिणाम पराभक्ति है, जिसको श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे इस प्रकार कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

रसिकराज श्रीभगवान्की यह प्रतिज्ञा है कि,—'मैं समस्त विश्वके उत्पत्तिका कारण हूं, मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है, ऐसा जानकर जो विवेकी गण परम प्रेमसे मेरी भजना करते हैं, उनके मन-प्राण मुझमें ही तल्लीन रहते हैं, मेरे ही विषयमें परस्पर बोध कराते हैं, मेरे गुण गानमें ही प्रसन्न होकर रमण करते हैं, ऐसे सदा मुझमें युक्त रहकर प्रेमपूर्वक मेरी उपासना करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धि-

योग प्रदान करता हूं, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त करते हैं। उन्ही भक्तोंपर कृपा करनेके लिये मैं आत्मभावसे स्थित होकर ज्ञानज्योतिके प्रकाशद्वारा उनका अज्ञानान्धकारका नाश करता हूं।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि, जो भगवान्का प्यारा भक्त सब आश्रयोंका परित्याग करके एक मात्र उन्हींके कल्याणकल्पतरु चरणोंका अनन्य आश्रय लेकर निरन्तर उन्हींकी चिन्ता करता है, उसकी पृथक्ताकी विरह-वेदना मानो भगवान्से असह्य हो जाती है, इसी कारण वे बुद्धियोग प्रदान करके भक्तको अपने चिन्मयरूपमें मिला लेते हैं। इसी अवस्थाको भक्ति-शास्त्रमें पराभक्ति कहा है।

यथा देवीभागवतमें—

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
अहङ्कारादिरहितो देहतादात्म्य वर्जितः।
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता॥
यस्यां देव्यतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते।
इत्थं जाता पराभक्ति र्यस्य भूधर तत्त्वतः,
तदैव तस्य चिन्मात्रे सद्रूपे विलयो भवेत्॥

परानुरक्तिके साथ अभेद भावसे भगवान्की ही चिन्ता करनेसे पराभक्तिका उदय होता है। इसमें अहङ्कारका नाश

और देहात्मभावका नाश होकर सर्वात्म-दृष्टि हो जाती है। इस प्रकार पराभक्तिको प्राप्त करके भक्त चिन्मय भगवान्‌में ही लय होजाता है। इस अवस्थाके अनुभवमें कैसी दृष्टि होती है, इसका वर्णन भगवान् शङ्करने इस प्रकार किया है:—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तु विषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

पराभक्तिकी अवस्थामें बुद्धियोगद्वारा प्रियतमके चिन्मय व्यापक रूपका दर्शन होजानेसे भक्तकी दृष्टिमें समस्त जगत् ही नन्दनवनकी तरह प्रतीत होता है, समस्त वृक्ष ही कल्पवृक्ष, सब जल ही गंगाजल, सब कार्य्य ही पुण्यकार्य्य, प्राकृत-संस्कृत सब वाक्य ही श्रुतिवाक्य और सारी पृथिवी ही वाराणसी बन जाती है। क्यों नहीं, अनन्त कालका आनन्दका भूखा और प्रेमका प्यासा जीव जब आनन्दमय प्रेम-महासागरमें उन्मज्जन-निमज्जन करने लगता है, तो उसको और क्या अभाव रह सकता है? इसी अवस्थाको श्रीभगवान्‌ने स्वयं भी कहा है:—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

अर्थात उसको लाभ करके मनुष्य किसी दूसरे लाभको उससे अधिक नहीं समझता और उस स्थितिमें अवस्थित रहनेसे किसी गुरुतर दुःखसे भी विचलित नहीं होता। भक्तिकी यही अन्तिम अवस्था है। भक्तिका पथ जितना मधुर उतना ही सुगम भी है। इसमें जाति-पांतिका विचार नहीं है, अवस्थाका भी विचार नहीं है और न अधिकारकी ही अपेक्षा है। जो चाहे वही अपने हृदयकी पवित्र प्रेम-वेलीको प्रभुके चरणोंमें चढ़ाकर कृतकृत्य और धन्य हो सकता है।

इस भक्तियोगके साथ सतियोंके पातिव्रत-योगका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। पति-परायणा सतियां पतिकी पूजा ईश्वररूपमें ही करती हैं। पतिको साधारण मनुष्य नहीं समझती किन्तु उनके लिये उनका पति ही ईश्वर है, ऐसी उनकी धारणा होती है। भक्ति-शास्त्रमें कहा है कि, महत्त्व-ज्ञानसे रहित ईश्वरसे किया हुआ प्रेम भी भक्ति नहीं है वह जार-प्रेमवत् है। देवर्षि नारदने कहा है—

"तद्विहीनं जाराणामिव"

अर्थात् माहात्म्य-ज्ञानसे हीन प्रेम जारप्रेमके समान है। इससे सिद्ध है कि, माहात्म्य-ज्ञानसे रहित ईश्वरके स्वरूपको जाने विना जो प्रेम है, वह भक्ति नहीं कही जा सकती।

ईश्वरके माहात्म्यको जानकर उनके स्वरूपको समझ कर उनके साथ जो प्रेम है, वही भक्ति कही जाती है। उच्च-श्रेणीकी सती देवियोंका पतिप्रेम माहात्म्यज्ञानपूर्वक ही होता है, वे अपने पतिदेवको परमाराध्य साक्षात् ईश्वर समझ कर ही उनसे लव लगाती है, इस कारण उनकी पति-भक्ति ईश्वर-भक्ति है, यह सिद्ध है। विचारसे यह भी देखा जाता है कि, भक्तिशास्त्रके दास्यासक्ति, सख्यासक्ति वात्सल्यासक्ति कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति आदि सप्त मुख्यरसोंमेंसे कई रसोंका विकास सती-हृदयमें होता है।

माता-पिता अपनी प्यारी कन्याके लिये यथाशक्ति अच्छे कुलीन रूपवान्, गुणवान्, विद्वान् और शीलवान् वर खोजते हैं। ऐसे सुयोग्य पात्र पाते ही उसको विधिपूर्वक बड़े प्रेमसे अग्नि और वेदके सामने कन्याका दान करते हैं। इस प्रकार-से यह मधुर सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके वादमें ही पिता-माता, सखी-सहेलियोंके मुखसे कन्या पतिके रूप, गुण आदिके विषयोंमें सुना करती है, इससे उसके हृदयमें पतिके प्रति अनुराग उत्पन्न होजाता है और वह क्रमशः बढ़ने लगता है। उसके बाद समय पर जब वह पति-गृहमें जाती हैं, तब उसे पति-सेवा तथा पति-प्रसन्नताकी

अनेक विधियोंका उपदेश माता-पिता आदि गुरुजन देते हैं। इस प्रकार वह नवागता वधू उन बतायी हुई विधियोंके अनुसार पति-सेवा करनेकी चेष्टा करती है। उन चेष्टाओंमें वैधीभक्तिके पूर्वकथित श्रवण, कीर्त्तनादि प्रायः नौ अङ्गोंके लक्षण देखे जाते हैं। जैसे अपने प्रियपतिके सद्गुणोंका दूसरोंके मुखसे श्रवण तथा अपने मुखसे कथन ये श्रवण और कीर्त्तन दो अङ्ग हैं। इसी प्रकार श्रवण और कीर्त्तनसे पतिके प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाने पर वह नव वधू अपने पतिका स्मरण किया करती है, यह तीसरे अङ्गका विकाश है। इसके बाद पाद-सेवामें भी इच्छा और अनुराग स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार पतिके लिये उत्तम भोजन एवं नाना प्रकारके व्यञ्जन बनाना, उत्तम वस्त्रादि बनाना तथा पतिको सब तरहसे सुख पहुंचानेकी चेष्टा ही पतिकी पूजारूप अर्चन है। विनय और प्रेमपूर्ण हृदयग्राही मधुर वचनोंद्वारा पतिको प्रसन्न रखना ही नवधा भक्तिका वन्दनरूप छठा अङ्ग है। पति श्रेष्ठ, पूज्य एवं स्वामी है, स्त्री उसकी दासी है, यह संस्कार आर्य्यमहिलाओंमें स्वाभाविकरूपसे होता है, एवं गुरुजनोंके उपदेशसे भी प्राप्त होता है। आगे चलकर पतिके प्रति वही इष्ट और पूज्यभाव एवं स्वयंके प्रति दासीका भाव दृढ़ हो

कर विशेष आनन्दका कारण बन जाता है। पति-पत्नीमें दूसरे भावोंके साथ-साथ समानताका भाव भी प्रबल देखा जाता है। यही सखाभाव है। पतिकी प्रसन्नताके लिये ही शृङ्गार करना, वस्त्र तथा अलङ्कार धारण करना, पतिके सुखके लिये शरीरसे चेष्टा करना, मनसे उसीके विषयमें सोचना आदि आत्म-निवेदनासक्तिका ही अभ्यास है। पतिके सुखसे सुखी होना, उसके दुःखसे दुःखी होना, पतिके लिये सोना, पतिके लिये जागना, पतिके लिये जीना एवं पतिके लिये मर मिटना यह सतीकी आत्म-निवेदनासक्तिकी तन्मयता रूप सिद्धि है, जो नवधा भक्तिका अन्तिम नवाँ अङ्ग है। भगवद्भक्तोंकी अपेक्षा भक्तिमती सतीकी भक्तिमें यह विशेषता देखी जाती है कि, भक्तोंको इस नवधा भक्तिके सभी अङ्ग प्रथम सीखने पड़ते हैं, एवं उन अङ्गोंका अभ्यास करना पड़ता है, परन्तु प्रातःस्मरणीया साध्वी सतीमें इनका क्रम-विकाश स्वाभाविक देखा जाता है।

इस प्रकारसे वैधी भक्तिका साधन करते-करते इसके अन्तिम परिपक्व अवस्थामें रागात्मिका भक्तिका उदय स्वतः हो जाता है। इस रागात्मिका भक्तिकी अवस्थामें पतिप्राणा सतीको पति-पूजाके लिये विधि-निषेधकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। वह सब समय पतिप्रेममें ही तल्लीन रहा

करती है, इस कारण उसके शरीरकी चेष्टा, मनकी चेष्टा और बुद्धिकी चेष्टा आदि सभी चेष्टाएँ पतिरूप परमेश्वरकी आराधनाके निमित्त ही होती हैं। पति-तन्मयता उसका ध्येय और पति-सेवा स्वभाव बन जाता है।

ऐसी आदर्श सतियाँ पतिरूपमें परम पति श्रीभगवान्‌के ही सगुणरूपकी उपासना करती हैं। यही कारण है कि, शरीरान्तके बाद वे साधारण स्वर्गलोकमें न जाकर उन्नत श्रेणीके भक्तों और उपासकोंके प्राप्य पंचम लोकरूप सती-लोकको प्राप्त करती हैं। तदनन्तर ज्ञानपूर्ण पराभक्तिका अधिकार अवश्य प्राप्त होता है। उस समयकी प्रवृत्ति और अधिकारके अनुसार वे वहींसे अन्य उन्नत लोकोंमें जाकर पराभक्तिकी पूर्णता प्राप्तकर परमपुरुषमें लीन हो जाती हैं।

त्रिलोक-पवित्रकारी सती-धर्म अलौकिक और अनन्त शक्तिशाली है। केवल सती-धर्मकी वैधी अवस्थाका पालन करते-करते सती आर्य्य-महिला यथार्थ योगिनी बन जाती है। और उसमें योगकी अलौकिक शक्तियाँ स्वाभाविक-रूपसे प्रकट होती हैं। पुराण और तन्त्रादि शास्त्रोंमें जहां पीठ-रहस्यका वर्णन है, ऐसे शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णित है कि, जैसे देव-विग्रह आदि पीठ बन जाते हैं, वैसे ही पति-तन्मयता युक्त सतीका शरीर सदा दैवीपीठ बना रहता है, यह

अवस्था योग-साधनका सर्वोन्नत फल है। सती जीवित अवस्थामें दैवी पीठ बनी रहती है और स्थूल शरीर छोड़कर लोकान्तरमें पहुंचने पर तीसरे उन्नत लोक स्वर्गकी तो बात ही क्या है, पंचम सती लोकमें तो उसका पहुँचना निश्चित ही है, इसके अतिरिक्त उन्नतसे उन्नत उपासना लोकमें भी सुगमतासे पहुंच जाती है; और वहां पराभक्तिका अधिकार प्राप्त करके योगीजन-दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेती है। यदि सती इस प्रकारकी अबाध ऊर्ध्वगतिको न प्राप्त करे और पुनः हमारे इस मृत्युलोकमें उसका जन्म हो, तौभी उसको पूर्वजन्मार्जित पति-तन्मयताके फलसे उन्नत पवित्र तपस्वी, ज्ञानी, और भक्त पुरुष-शरीर प्राप्त होता है; एवं उन्नत ज्ञानपूर्ण भक्तिका अधिकार प्राप्त होकर पराभक्तिका उदय होता है; जिससे उसकी भक्तिरस-सिक्त मधुर दृष्टिमें यह जड़-चेतनात्मक सब जगत् प्रियतम-मय दिखायी देने लगता है। उस समय सब रसोंमें उसीका माधुर्य्य, सब रूपोंमें उसीकी रूप-माधुरी और कोमल कुसुम-कलियोंके विकाशमें उसीका मन्द मधुर हास अनुभूत होता है। यही भगवान् और भागवतका अनन्त मधुर-मिलन-रूप अद्वैत-सिद्धि है।

वाणी-पुस्तक-माला ।

वर्त्तमान हिन्दी साहित्यमें स्त्री-उपयोगी और धार्मिक-ग्रन्थोंकी अत्यन्त कमी है। स्त्रीसाहित्यके नामपर जो पुस्तक मालाए या पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं वे इतनी भ्रष्ट और हिन्दू-संस्कृतिके विरुद्ध हैं कि, उनका पढ़ना अपने मस्तिकमें विषका इंजेक्शन देना है। उनसे मनुष्य चारो पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति को तो वहुत दूरकी वात है—संस्कारच्युत होकर पाश्चात्य नरककी गुलामीकी ओर अग्रसर होते है। इसी दूषित वातावरणको दूर करनेके विचारमें इस पुस्तक-मालाका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है। इसमें ऐसी ही पुस्तकें ग्रथितकी है और की जायंगी जो हर प्रकारसे आर्य-संस्कृतिको रक्षा कर हमे अपने परम लक्ष्यकी ओर पहुँचानेमें समर्थ हो। इस मालाको अपना कर आप न केवल स्वयं धर्म अर्जन करेगें वरन अपनी समाजकी रक्षाके पुण्यके भागी वनेगें।

स्थायी ग्राहकोंके लिये कुछ नियम ।

१—स्थायी ग्राहक बननेका प्रवेश शुल्क १) है ।

२—हमारे यहाँसे प्रकाशित सभी पुस्तकों पर स्थायी ग्राहकोंको फ़ी रुपया ।) कमीशन दिया जाता है ।

३—पुस्तकें प्रकाशित होनेके एक मास पूर्व, मूल्य आदिका विवरण स्थायी ग्राहकोंको भेज दिया जायगा । किसी तरहकी सूचना न आने पर उन्हें पौन मूल्यपर पुस्तके वी० पी० द्वारा भेज दी जायगी ।

४—स्थायी ग्राहकोंकी इच्छानुसार डाक-व्ययके बचावके लिये ३-४पुस्तके एक साथ भेजी जासकती हैं ।

५—बाहरकी पुस्तकें स्थायी ग्राहकोंको फी रुपया ⁻) कमीशन पर मिलेगी ।

६—स्थायी ग्राहक आर्डर देते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिख लिया करें, जिसमें उनके आर्डर पत्रपर कमीशन काटनेमें भूल न हो ।

७—किसी स्थायी ग्राहककी भूलसे वी० पी० लौट आनेपर उन्हें सूचना दी जायगी । यदि वे सन्तोषप्रद उत्तर न देंगे तो स्थायी ग्राहकोंकी सूचीसे उनका नाम काट दिया जायगा । प्रवेश शुल्क लौटानेका कोई नियम नहीं ।

८—पांच स्थायी ग्राहक बनाने वाले सज्जनोंको विना प्रवेश शुल्कके ही स्थायी ग्राहक बननेका अधिकार होगा ।

९—आर्यमहिलाके ग्राहक विना प्रवेश शुल्क जमा किये ही हमारी पुस्तकमालाके स्थायी ग्राहक हो सकते हैं । उन्हें स्थायी ग्राहककी समस्त सुविधायें दी जायंगी ।

विशेष जानकारीके लिये पत्र व्यवहार करें ।

कन्या-शिक्षा-सोपान ।

छोटी उम्रकी कन्याओंको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक लिखी गयी है। इसको पढ़ानेसे कन्याओंमें भाषा-ज्ञानके साथ-साथ धर्म और सदाचारके प्रति सहज अनुराग उत्पन्न होता है। प्रत्येक माता-पिताको प्रारम्भमें यह पुस्तक अपनी कन्याओंको पढ़ाना चाहिये। मूल्य प्रचारके विचारसे ‒) आना मात्र रखा गया है।

महिला—प्रश्नोत्तरी ।

इस छोटी सी पुस्तकमें महारानी और वाणी देवीके प्रश्नोत्तर रूपसे महिलाओंके जानने योग्य सनातनधर्मके अनेक गूढ़ विषय जैसे धर्म, ईश्वर, उपासना-रहस्य, महिलोचित आचार व्यवहार आदिका अत्यन्त सरल भाषामें वर्णन है। इसे पढ़कर सनातनधर्मावलम्बिनी आर्यमहिलायें सहज सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। कन्याओंके लिये तो यह कण्ठहार ही है। प्रत्येक गृहस्थको इसकी एक प्रति अवश्य रखनी चाहिए। मूल्य सर्व सुलभ ‒) मात्र है।

श्रीसप्तशती गीता (दुर्गा)

हिन्दी-संसारमें बहुत दिनोंसे जिस ग्रन्थका अभाव था, वही दुर्गासप्तशती टीका और हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो गयी है। सप्तशतीकी ऐसी वैज्ञानिक और सहज सुबोध टीका आज तक किसी भी भाषामें प्रकाशित नहीं हुई है।

इसमें अन्वयके साथ-साथ भाषामें अनुवाद दिया गया है और हिन्दी भाषामें इसकी इस प्रकार टीका की गयी है कि, जिसके पाठ करनेसे श्रीदुर्गाके सब प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्योंको अनायास समझ सकते हैं। दुर्गाके विषयमें किसी प्रकारकी शंका क्यों न हो इस ग्रन्थके पाठ करनेसे समूल नष्ट हो जायगी। इस ग्रन्थके पाठ द्वारा दुर्गाके वास्तविक तथ्यका हृदयङ्गम होनेसे चित्तमें एक प्रकारकी अपूर्व शान्ति मिलती है। तरह-तरहके सुन्दर अक्षरोंमें उत्तम कागज और छोटे साइजमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। प्रत्येक शाक्त्यको नहीं वरन् हिन्दु सद्गृहस्थ मात्रको यह ग्रन्थ खरीदना चाहिए। मूल्य पूरे कपड़ेकी जिल्द १) आधे कपड़ेकी जिल्द ।||) मात्र।

ईशावास्योपनिषद्।

सब शास्त्रोंका बीजरूप वेद हैं। वेदके तीन काण्डोंके अनुसार उसके तीन भाग प्रसिद्ध हैं। यथा—मन्त्र या संहिता भाग, ब्राह्मण भाग और उपनिषद् भाग। उपनिषद् वेदके सबसे उत्तम अङ्ग हैं। उनमें ब्रह्म-जिज्ञासाका समाधान बहुत ही उत्तम रीतिसे हुआ है। उपनिषदोंके गूढ़ रहस्योंका उद्‌घाटन जैसा श्रीमत् शङ्कर प्रभुने अपने भाष्योंमें किया है वह अपूर्व और अनुपमेय है। परन्तु भाष्य संस्कृतमें होनेके कारण केवल हिन्दी जाननेवाली जनता उसका ज्ञान प्राप्त करनेमें सर्वथा असमर्थ थी। अस्तु, उसे सुलभ बनानेके

उद्देश्यसे ईशावास्योपनिषद्की यह हिन्दी टीका प्रस्तुत की गयी है। इसमें अन्वय, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य, भाष्यानुवाद और उपनिषद् सुबोधिनी टीका दी गयी है। शाङ्करभाष्य द्वारा भी उपनिषदोंके जो स्थल अस्पष्ट रह गये थे, उपनिषद् सुबोधिनी टीका द्वारा वे बहुत ही स्पष्ट और सुबोध बना दिये गये हैं। यह टीका सर्वथा वैज्ञानिक और समस्त भारतीय भाषाओंमें अपने ढंगकी अनोखी हुई है। ईशावास्योपनिषद्का यह संस्करण दर्शनशास्त्रके प्रति किंचित अनुराग रखनेवाले सज्जनोंके लिये भी बहुत सरल और बोधगम्य हो गया है। इतना सब होते हुए भी मूल्य ॥) मात्र रखा गया है।

केनोपनिषत्।

ईशावास्योपनिषत्की तरह केनोपनिषत् भी मन्त्र, अन्वय, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य, शाङ्करभाष्यके हिन्दी अनुवाद और उपनिषत्-सुबोधिनी-नामक वैज्ञानिक टीका सहित हिन्दी साहित्यकी पुष्टि तथा स्वदेश हितैषी, स्वधर्मानुरागी और मुमुक्षु पाठकोंके निमित्त सुन्दररूपमें प्रकाशित हुई है। ईशोपनिषत्की अपेक्षा केनोपनिषत्की विशेषता यह है कि इसमें श्रुतिने प्रश्नोत्तर प्रणालीका अवलम्बन करके ब्रह्म जैसे दुरूह विषयको साधारण मनुष्य बुद्धिगम्य बनानेका सफल प्रयत्न किया है। इसे पढ़कर ब्रह्म-जिज्ञासा रखने वाला साधारण पाठक भी सहज ही सत्य ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। इसकी उपनिषत् सुबोधिनी टीका तो सोनेमें सुगन्ध

बन गयी है। उससे इस उपनिषत्के सभी रहस्य दिनकी तरह स्पष्ट हो गये हैं। धर्ममें श्रद्धा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति-को इस महिमामय ग्रन्थका अवश्य अवलोकन करना चाहिए। मूल्य सर्वजनोपयुक्त ||) मात्र।

कठोपनिषत्।

अन्य उपनिषदोंकी अपेक्षा कठोपनिषद्की यह विशेषता है कि, नचिकेताके उपाख्यानका आश्रय लेकर इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके मौलिक सिद्धान्तोंका पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है। इसके द्वारा कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड तीनोंकी महिमाके साथही साथ पितृमहिमा, आतिथ्य-महिमा और दैवीजगतकी महिमाका बहुत कुछ दिग्दर्शन होता है। इसमें भी मूल, अन्वय, मूलकी हिन्दी अनुवाद, श्रीशाङ्करभाष्य श्रीशाङ्करभाष्यका हिन्दी अनुवाद और एक अनुभवी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महात्माके द्वारा प्रकाशित नयी टीका दी गयी है। इस टीकाके द्वारा इस उपनिषद्का कोई ऐसा विषय नहीं रह जाता है, जो साधारण पाठकके समझमें न आता हो। इसमें वेदके स्वरूपको बताने वाली एक अपूर्व भूमिका भी दी गयी है। छपाई सफाई आदि सुदृश्य और मनोहर। मूल्य केवल २) रु० मात्र।

मिलनेका पता—

व्यवस्थापकवाणी-पुस्तक-माला,

आर्य्यमहिला कार्य्यालय, बनारस कैंट।